गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वरः
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवेनमः

वर्ष ६ | शाका सं० १८८२ नौम्बर दिसम्बर १९६० | तरङ्ग ९, १०

शब्द

पाया पद निवर्ना साधो, पाया पद निर्वान ॥
नहिं वह कर्म न भक्ती भाव कुछ, नहिं वह सूखा ज्ञान।
गुरु की दया से लखे गुरु मूरत, घट में सब दरसान ॥
बजत बांसुरी बीन चिकारा, सुन सुन मन हरषान।
झलकत झिलमिल चमकत बिजली, माया काल पचतान॥
अगम पन्थ में अगम विराजा, अगम में मिला ठिकान।
ऊँचे चढ़ सुर्त भई मतवाली, लिया प्रीतम पहिचान ॥
जहाँ जहाँ चलूं वही मेरा तीरथ, जो जो करूं सो ध्यान।
जागृत स्वप्न एक समलेखूँ, खुले नैन विज्ञान ॥

धन्यवाद

राय मुरारीलाल साहब रिटायर्ड एक्जक्यूटिव इंजीनियर का यह कार्य बड़ा सराहनीय है कि आपने "लाइट आन आनंद योग" अंग्रेजी पुस्तक के हिंदी में अनुवाद करने में बड़ा परिश्रम किया है और फिर उसके प्रकाशित कराने का कुल खर्च अपने पास से दिया है। चूंकि इस पुस्तक का सम्बन्ध केवल सार तत्य की असलियत को समझाना और योग विद्या पर प्रकाश डालना है अतः यह सर्व साधारण के लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। इस दृष्टि से श्री मुरारीलाल जी का कार्य और भी सराहनीय हो जाता है कि आपने इस कमी को पूरा किया है। जो महत्वपूर्ण निष्काम कर्म है।

साथ ही हम श्री भजनलाल जी वकील अलीगढ़ के बड़े कृतज्ञ हैं कि जिन्होंने प्रतिदिन अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक के अनुवाद में संशोधन करने तथा भाषा को यथाशक्ति सरल और सुगम बनाने में हमारी सहायता की है।

पुस्तक जैसी है वह तो आपको पढ़ने से ही ज्ञात होगी मगर है यह एक अमूल्य ग्रन्थ। इस हिन्दी पुस्तक में दो नई बातें हैं एक तो महर्षि जी महाराज की संक्षिप्त जीवनी, दूसरे परम संत दयाल 'फकीर' साहब का प्राक्कथन जो निज अनुभव के आधार पर है जिसने पुस्तक में चार चाँद लगा दिये हैं और आनन्द योग के विषय को बड़ा स्पष्ट कर दिया है।

यदि पाठकों ने इसको अपनाया तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

आशा है आप भविष्य में भी इसी प्रकार और अधिक ऐसे उपकारी कार्यों में हमारा हाथ बटायेंगे ताकि लोगों का भला हो सके। मालिक सबका कल्याण करे।

शुभकांक्षी
स० सम्पादक

प्राक्कथन

(परमसंत दयाल फकीरचन्द जी महाराज द्वारा)

राय साहिब मुरारीलाल ने लिखा था कि दाता दयाल की पुस्तक 'लाइट आन आनन्द योग' जो हिन्दी में 'शिव' के सम्पादक प्रकाशित कर रहे हैं मैं अपनी ओर से कुछ लिखूं।

मुझमें शक्ति नहीं कि दाता दयाल की विचारधारा पर कुछ प्रकाश डाल सकूँ। मैंने जो कुछ 'आनन्द योग' या 'सुरत शब्द योग' को समझा है वह कहता हूँ।

अजर अमर एक हालत है जहाँ फकीर अबजावे।
वह है आनन्द की कैफियत जहां आनन्द समावे॥
जिभ्या बाणी की गम नहीं, नहिं बुद्धि का कामा।
वह अनुभव है होगया, सुरत शब्द परिणामा॥

यह अवस्था परम आनन्द की जो रात को या इस अवस्था में शब्द योग के साधन से प्रगट होती है यह वह शब्द योग नहीं जो प्रारम्भिक अभ्यास सुमिरन ध्यान से चलता था। इसमें और उसमें आकाश पाताल का अंतर है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था या साधन की प्रारम्भिक और मध्य अवस्था में कुछ और दशा हुआ करती थी। इसमें भी आनन्द आदि था। ध्यान में दाता दयाल (महर्षि शिव) की मूर्त्ति प्रगट होती थी। घंटा, शंख, मृदंग, बांसुरी आदि सुना करता था मगर यह मौजूदा अवस्था जो प्रगट होती है यह किसी इस प्रकार के शब्दों या ध्यान (मानसिक ध्यान) के कारण नहीं होती। यह एक ऐसा विलक्षण शब्द और थोड़ा उज्ज्वल प्रकाश अन्तर में प्रगट होता है और तब यह अवस्था परमानन्द तथा परम शान्ति की प्रगट

होती है और कुछ समय के बाद मेरा अस्तित्व अपने व्यक्तित्व को खो देता है। फिर नीचे आकर बाहोश (चेतन्य हो जाता हूं। चूंकि मैं इस मालिक परम तत्व आधार की खोज में था परन्तु यह क्या निकला--

मेरी ज़ात है सदा लामकानी, मेरी ज़ात है विदानी।
ज़ात मेरी सदा अपने आप में रहती थी दवामी॥
आई भंवर प्रकट हुआ शब्द प्रकाश फिर नीचे को रवानी॥
आकर नीचे पिंड देश में उठाई थी हैरानी॥
गुरु मिले जिन भेद बताया उलटी फिर निज जात समानी॥

मैंने इस मार्ग पर बड़े गौर से सफर किया है। जहाँ तक मेरा निज अनुभव है यह शब्द योग कुदरती है। यह कुल रचना प्राकृतिक है। एक तत्व हस्ती (परम तत्व) प्रधान है। उसमें गति होती है। जहाँ गति है वहाँ शब्द और प्रकाश का होना लाजिमी है।

मानव जीवन प्रकृति का नमूना है। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिंड में है। यह निश्चय हो गया। अब इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न लोक लोकान्तर और ग्रह हैं। उनके प्रभाव भाव और गुण हैं और वही मनुष्य के अंदर मौजूद हैं। ज्योतिष विद्या उसको बहुत हद तक सिद्ध करती है मगर वह केवल शारीरिक अवस्था तक का वर्णन करती है। प्रत्येक लोक अपने अन्दर विशेष विशेष प्रकार की किरणें बाहर को फेंकता रहता है और वह विभिन्न रूपों में हर जीव जन्तु पर प्रभाव डालती हैं। हर एक लोक की चाल है अर्थात् गति है। उस गति से शब्द और प्रकाश निकलता रहता है।

इंसान के अंदर सब प्रकार के लोक लोकान्तरों के प्रभाव मौजूद हैं और प्रत्येक मनुष्य उनके प्रभाव वश गति करने के लिये विवश है।

सुरत शब्द योग से मनुष्य सब प्रकार के प्रभावों को, जो ब्रह्माण्ड में हैं, शीघ्र अनुभव कर सकता है।

दाता दयाल ने जो कुछ लिखा वह धार्मिक ढंग के आधार पर वर्णन किया है, ताकि जिनको धार्मिक जगत के संस्कार हैं उनको विश्वास होजाय और वह इस ओर आवर्षित हों। मुझे चूंकि धार्मिक ज्ञान इतना नहीं है मैं स सुरत शब्द की व्याख्या कुदरती ढंग पर करता हूँ।

शब्द जब उत्पन्न होगा किसी वस्तु की गति या टक्कर से उत्पन्न होगा और शब्द के साथ प्रकाश का होना आवश्यक है। यह सम्पूर्ण रचना लोक लोकान्तर गति में हैं, इसलिये हर जगह शब्द और प्रकाश मौजूद है। इससे किसी को इंकार नहीं हो सकता है।

हमारे शरीर में हर जगह रक्त का दौरा होता रहता है। इसलिये हर स्थान पर शब्द और प्रकाश मौजूद है। मन के अंदर जो संस्कार और वासनायें मौजूद हैं इनमें हर समय गति होती रहती है। वहाँ भी शब्द और रूप मौजूद है। इसका प्रमाण हमारी स्वप्नावस्था है। गाढ़ निद्रा में आम लोगों का ख्याल है कि मन नहीं होता मगर मैं नहीं मानता। मन वहाँ भी है मगर चूंकि गहरी नींद में तवज्जह (सुरत) को बेहोशी (अचेतन्यता) रहती है इसलिये हमको जान नहीं पड़ता। यदि वहाँ कुछ न होता तो फिर वहां से उत्थान न होता। कुछ है इसलिये वहां से हमको जो वहाँ कुछ है वह चेतन्य कर देता है। साथ ही आत्मिक अवस्था में जहाँ प्रकाश और शब्द बिल्कुल साफ हैं यह प्रमाण है कि कोई ऐसी वस्तु है जिसमें वह आत्मा का शब्द और प्रकाश मौजूद है।

इसलिये उस अवस्था या तत्व को जहाँ से यह शब्द व प्रकाश बनता है मैं न जान सका। जानूं कैसे! उससे सब

कुछ प्रगट है, वह आप ही आप है और वही निज रूप है, वही मालिक है वही परम आधार है।

वह आप ही गति में आया। उससे शब्द और प्रकाश प्रगट हुआ और फिर उस शब्द व प्रकाश से समस्त रचना प्राकट्य में आई। और वह आप ही लौट करके अपने आप में ठहर गया। उसका अंश रूप से नीचे आना और फिर वापिस जाना स्वाभाविक है।

उस आपको ही सन्त सुरत कहते हैं। जब तक वह इस शब्द और प्रकाश के खेल में है वह सुरत है। जब खेल समाप्त करके अपने स्वरूप में वापिस जाती है तो वह स्वामी, जात, अकाल, अनाम आदि के नाम से उसको मानव बुद्धि प्रकट करती है, यद्यपि वह कथन में नहीं आती। मानव शरीर में उसका खेल पूरा होता है दूससे शरीरों में पूर्णता नहीं होती। यह भी मनुष्य ने अपने ही अनुभव से प्रगट किया है। कम से कम मैं यह दावा नही करता कि किसी दूसरे शरीर में वह इस पूर्ण खेल का अनुभव करती है या नहीं।

मनुष्य ने अपनी प्राकृतिक कुरेद को मिटाने के लिये भिन्न भिन्न चक्रों या केन्द्रों आदि पर ठहर ठहर कर जो जो प्रकाश और शब्द सुने और उनके प्रभावों का अनुभव किया वह लेखवद्ध कर गये।

सत कबीर के तीन शब्द इस बारे में बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं।

कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।
कर नैनों दीदार पिंड से न्यारा है।
तू सुरत नैन निहार वह अंड से पारा है।

राधा स्वामी दयाल ने 'हिदायत नामा' में जो गद्य में है समस्त रचना का वर्णन किया है।

इस समय तक मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि हर व्यक्ति इन श्रेणियों को सुगमता से पार कर सकता है बशर्ते कि उसको किसी पूर्ण पुरुष का सत्संग मिल जाय और साथ ही उसकी प्राप्ति की उसकी दृढ़ इच्छा भी हो। यह बिल्कुल सुगम है और स्वाभाविक है। अब मैं निर्भय होकर कह रहा हूँ कि यह सारा कोर्स बहुत ही कम समय में पूरा हो सकता है और फिर जब तक जीवन है मनुष्य जिस समय भी चाहे वह अपने अन्तर ठहर कर इन कुल श्रेणियों का आनन्द ले सकता है और जीवन को आनन्ददायक बना सकता है।

देखो! यह मार्ग केवल उनके लिये है जो संसार की इच्छाओं में ग्रसित नहीं हैं। जिनको संसार की आशायें, वासनायें हैं उनके लिये वास्तव में असम्भव है। इच्छायें उनकी मिट जाती हैं जो वासना और इच्छा रहित पुरुषों की संगत करते हैं। संसार में काम करना लाजिमी है मगर काम के फल की ओर हर समय ध्यान रखना फंसाता है, इसलिये जब तक कोई किसी निष्काम और वासना रहित पुरुष के साथ प्रेम सम्बन्ध न रखेगा उसको इस मार्ग में सफलता न होगी। यह मेरा निज अनुभव है। इसलिये इस मार्ग पर चलने के लिये किसी सच्चे निष्कामी या वासना रहित, शान्तमय या विदेह पुरुष से सम्बन्ध जोड़ना लाजिमी है। यों भी कुदरत मनुष्य को वैराग देकर संसार से उपराम करती रहती है और निर्वासना होने के लिये विवश कर देती है। अब सत कबीर की बाणी को लो। वह लिखते हैं—

कर नैनों दीदार महल में प्यारा है।
काम क्रोध मद लोभ विसारो, शील संतोष क्षमा सत धारो।
मद मांस मिथ्या तज डारो, हो ज्ञान घोड़े असवार भरम से न्यारा है॥

दूसरे शब्द में—कर नैनों दीदार, पिंड से न्यारा है।
तू हिरदे सोच विचार अंड मंझारा है॥
चोरी जारी निन्दा त्यागो, ममता तज सतगुरु सिरधारो।
सतसंग कर सतनाम उचारो, तब सन्मुख हो दीदारा है॥

राधास्वामी दयाल का कथन है कि इस मार्ग का अधिकारी वह है—

विषयों से जो होय उदासा। परमारथ की जा मन आसा॥
धन संतान प्रीति नहिं जाके। खोजत फिरै साध गुरु ताके॥

मैं ने यह सोचकर शिक्षा में परिवर्तन किया है और सबसे पहिले इंसानियत (मनुष्यता) की शिक्षा दी है। दाता दयाल ने इसी पुस्तक में शिष्टाचार की शिक्षा देते हुये कहा है—पूर्ण रूपेण और हर बात में मनुष्य बनो (Be man entire, whole and in everything)

जिनमें मनुष्यता आगई है उनको कहता हूं कि प्रातःकाल ५ से ७ बजे तक और शाम को कुछ समय तक एकान्त में बैठ जाओ। साधन किसी से सीखलो। जब सब ख्याल छोड़ कर आंख कान, जुबान बन्द करोगे तो जहाँ तुम अपनी सुरत (तवज्जह) को लगाओगे, वहां की गति का शब्द और प्रकाश स्वयं प्रगट होगा।

इनकी जानकारी किसी भेदी से लो।

दुनियाँ के व्यवहार में सफलता और सुख केवल सहस्रदल कंवल व त्रिकुटी के स्थान के साधन तक होगा। जिसके अन्दर साँसारिक वासनायें हैं वह जब एकान्त में जायेंगे, इन्हीं वासनाओं के शब्द व प्रकाश अन्तर में पैदा होंगे। जो मानसिक खुशी व आनन्द की इच्छा रखते हैं वह जब साधन करेंगे एकान्त में उनके अन्दर सुन्न महा सुन्न आदि के शब्द व प्रकाश उत्पन्न होंगे; क्योंकि जैसी दात उनकी प्रकृति की

होगी उसी प्रकार का शब्द प्रगट होगा। यह स्वाभाविक है। जो आत्मिक अवस्था की चाह वाले होंगे उनके अंदर केवल प्रकाश और शब्द होगा जो आत्मा का रूप है और जो उस ज्ञान, मालिक, सर्वाधार के जिज्ञासु होंगे, उनके अंदर वह अनन्त शब्द (Unbreakable Sound) जो मनुष्य की अपनी सुरत की गति का परिणाम है प्रगट होगा। वह गहरी विस्माधि में ले जायगा। इस अवस्था का अनुभव मैं अब करता हूँ। असली वस्तु तड़प, इच्छा और वासना ही है।

मेरा अनुभव है कि सुरत शब्द योग मनुष्य को परम शान्ति की ओर ले जाता है। मुझे भी परम शान्ति प्राप्ति हुई है। साथ ही पहिले स्थानों का साधन सांसारिक तथा व्यौहारिक कामों में उन्नति करता है।

मेरा यह ख्याल है कि इस पुस्तक के पढ़ने से ही बहुत बड़ी शान्ति प्राप्त होगी और पाठकों के भ्रम और अज्ञान मिट जायेंगे और उनको यह पुस्तक उनके साधन में भी बतौर गुरू के काम करेगी। मेरा यह विचार है कि इस सुरत शब्द योग के मार्ग से काफी उन्नति हो जायगी और जनसाधारण को भी लाभ पहुंचेगा।

फकीर

जहां तक पुस्तक के महत्व का सम्बन्ध है, उसके विषय में अँग्रेजी पुस्तक में वर्णित निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) एक को समझना सबको समझना है और सबको समझना कुछ न समझना है। वह एक जिसको समझना है परमेश्वर है, देव है, परमात्मा है या चाहे जिस नाम से पुकारो।

(२) धर्म इस एक परमेश्वर के होने की घोषणा करता है और उसके अस्तित्व का मंडन करता है और अधर्म इसका खण्डन और निषेध करता है। धर्म केवल इसी एक सत्य

और महान परमेश्वर का अनुभव करने के लिये विचारों की पद्धति जिसमें है सिद्धान्त और साधन वर्णन किये जाते हैं।

(३) खंडन और मंडन साथ साथ चलते हैं। जो खंडन करते हैं, उनसे न झगड़िये, क्योंकि उनमें आस्तिकता नहीं है। जब तक उनकी अनुभूतियां और निरीक्षण शक्ति नहीं बढ़ जाती तब तक तुमको उनपर अपने विचार या विश्वासों को थोपने का क्या अधिकार है? अपितु उनके साथ धैर्य और सहनशीलता से बर्ताव करना चाहिये।

(४) यदि ईश्वर है तो अनीश्वर भी होना चाहिये। दोनों ही सापेक्ष संज्ञायें हैं। यदि एक है तो दूसरा भी उसके साथ रहना चाहिये। कुछ इस विचार के हैं तो कुछ दूसरे विचार के। यह स्वाभाविक ही है।

(५) यदि तुम धार्मिक हो तो यह तुम्हारा काम है कि तुम सत्य की प्राप्ति के लिये अध्ययन और अन्वेषण करो। यह काम नास्तिकों का नहीं है तुम अपना काम करो और दूसरों का ख्याल छोड़ दो, जो इसमें रुचि नहीं रखते। ईश्वरवाद और अनीश्वर वाद एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं।

(६) यदि परमेश्वर कोई सत्ता है तो उसे देखना, जानना, पाना तथा खोजना चाहिये अन्यथा इसको छोड़ देना चाहिये। इसी प्रकार यदि धर्म उच्चतम वस्तु है जैसा कि इसके लिये दावा किया जाता है तो इसका अन्वेषण, विश्लेषण, समालोचना करनी चाहिये और निश्चित रूप से समझना चाहिये। ईश्वर को पूजना या किसी धर्म का अवलम्बन करना बिना असलियत समझे मूर्खता है।

(७) ईश्वर प्रकृति में एक तथ्य है और धर्म उस तथ्य से सम्बन्धित विज्ञान, निरूपण और विचारों की पद्धति है।

(८) तुम शरीर मन और आत्मा हो। तीन में एक और एक में तीन। इसी प्रकार परमेश्वर भी आत्मा, मन और शरीर है। एक में तीन और तीन में एक। इस बात को मानो या मत मानो जैसा तुम्हारे मन की प्रेरणा हो। परन्तु यदि तुम इसको मानते हो तो उचित ही है कि तुम इस पर आरूढ़ रहो, क्रियाशील रहो और उसके साथ एक हो जाओ। सच्ची एकता प्राप्त करो और वही मोक्ष है। यदि तुम दूसरे विचार के हो तो तुम इस झंझट में न पड़ो और जीवन के कार्य अपनी रुचि के अनुसार किये जाओ।

(९) आत्मा में आनन्द, सुख और शान्ति है, मन में विचार, संकल्प और जिज्ञासा है और शरीर में क्रिया है। तुम यह विचार करो कि तुम क्या हो? आत्मा हो, या शरीर और तब अपने जीवन को ढाल लो। यदि हो तो शारीरिक काम काज में लग जाओ, यदि मन हो तो विचार शक्ति को पुष्ट करो और यदि आत्मा हो तो शान्ति और प्रेम का जीवन व्यतीत करो। और दूसरे लोग कालान्तर में तुम्हारा अनुसरण करेंगे। कोरे गाल बजाने से कुछ लाभ नहीं। जो हो सो बनकर दिखाओ। धर्म आचरण (अमल) के लिये है न कि वादविवाद के लिये।

(१०) धर्म, क्रिया, विचार और सुख में व्यापक है और ओत-प्रोत है। यदि सब ही पुरुष इस लक्ष्य को जो धर्म की तह में है समझ लेते हैं तो वह धर्मात्मा बन सकते हैं।

(११) एक धार्मिक मनुष्य का असली ध्येय यह है कि आत्मीयता (प्रेम शान्ति आदि) को क्रिया (परोपकार) में परिणित करे और अपने चारों ओर आनन्द फैलाये। आत्मा का राज्य प्रेम शान्ति और आनन्द का है। यह राज्य

स्वर्ग का है पृथ्वी का नहीं है। स्वर्ग पृथ्वी से भिन्न है और परमेश्वर दानव से भिन्न है और धार्मिक परिभाषा में कहें तो आत्मा प्रकृति से भिन्न है। मन इन दोनों के बीच में एक बीच की कड़ी है।

(१२) यह सुगम है कठिन नहीं। सुगम उनके लिये जो इसको जानते हैं और इस पर आचरण करते हैं. कठिन उनके लिये जो न जानते हैं न आचरण करते हैं।

(१३) आत्मा आनन्द है और यह प्रति दिन प्रकृति और मन के लोक में नीचे उतरती है। इसी प्रकार मन को प्रतिक्षण प्रकृति के स्तर पर उतरना पड़ता है। तुम में यह क्रिया नित्य होती है पर उसको भूल जाते हो।

(१४) यह सृष्टि शिष्टता की है न कि अशिष्टता की। प्रेम ज्ञान और जीवन यह तीनों इस स्थूल शरीर में धारों के रूप में उतरते हैं और उसको क्रिया शील, ज्ञान सम्पन्न और प्रेम सम्पन्न करते हैं। क्या तुम स्वयं ऐसा प्रतिदिन नहीं करते? तुम यह सब अनजान में करते हो और इसीलिये अनुभव नहीं करते। जब तुम जागृत अवस्था में होते हो तो उस जीवन के स्रोत से जो तुम्हारे मस्तिष्क में है शक्ति और विचार सब शरीर में उतर आते हैं और जीवन शक्ति नस नाड़ी की नालिकाओं द्वारा संचारित होती है और फिर उन्हीं के द्वारा ऊपर की ओर नाड़ियों के केन्द्र में पहुँच जाती है। यह दैनिक क्रिया जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के रूप में होती रहती है और फिर भी तुम उसको अनुभव नहीं करते।

(१५) राधास्वामी मत की शिक्षा यही है कि हम जानकारी से उसी काम को करें जो कि हम अनजान रूप में करते रहते हैं। मनुष्य बनो और अपने मन और शरीर को आत्मिक बनाने का यत्न करो और इस प्रकार धरती पर स्वर्ग

लाओ। पहिले अपने लिये फिर दूसरों के लिये। जब तक स्वर्ग को इस धरती पर नहीं उतारते हो तब तक सदा अशान्ति, बेचैनी और दुख बने रहेंगे। यह आत्मा को ही श्रेय है कि जिसके अंदर आनन्द शान्ति और सुख के गुण विद्यमान रहते हैं।

(१६) जिस प्रकार एक दीपक की ज्योति अंधेरे स्थान में सीधी प्रवेश करती है और उस स्थान को प्रकाशित करके अपना सा बना लेती है, इसी प्रकार दैवी कृपा अर्थात् आत्मिक सत्ता नीचे उतर कर प्रकृति को अपना जैसा बना लेती है। इस तथ्य को समझने का यत्न करो और शिक्षाओं को सुनो, यदि वे तुमको रुचि कर हों।

(१७) यही सब कुछ नहीं है। अध्यात्म में यह पहली सीढ़ी है। इस पुस्तक के उपदेश लोगों के हित के लिये लिखे गये हैं और उन लोगों के लिये लिखे गये हैं जिनका अन्तःकरण पक्षपात तथा कट्टरता से दूषित नहीं हैं।

पुस्तक के सम्बन्ध में

यद्यपि यह पुस्तक छोटी है तो भी विचारपूर्वक और बार बार अध्ययन करना आवश्यक है। यह तीन भाग में बाँटी गई है। और भूमिका इसके अतिरिक्त है—

पहला भाग 'अनेकता' का है जो तीनविषयों का वर्णन करता है-

(१) जीवन की एकता और अनेकता।

(२) प्रकृति, मन और आत्मा के तीन लोक।

(३) मानसिक अवस्थायें।

दूसरा भाग "एकता" वाला चार विषयों का वर्णन करता है—

(१) पहिला वर्णन आत्मीयता का है जोकि अपूर्ण जीव

(व्याष्टि भाव) की एकता पूर्ण (समष्टि भाव) के साथ करती है।

(२) आत्मीयता की प्राप्ति का केवल योग साधन द्वारा सम्भव होना जिन योग साधनों में आनन्द योग अत्यन्त स्वाभाविक है।

(३) आत्मिक आनन्द का एक आत्मनिष्ठ पुरुष के लिये उसी प्रकार सम्भव होना जैसा कि दुनियावी मनुष्य के लिये शरीर और इन्द्रियों द्वारा आनन्द।

(४) जाग्रति, स्वप्न और सुषप्ति की तीन अवस्थायें जो कि हमारे शरीर में संचरित आत्म धार से पैदा होती हैं, जिस धार का जमजाना या टिक जाना सुख पैदा करता है और उसका विक्षिप्त होना दुख पैदा करता है।

तीसरा भाग "एकत्व" की विधि को वर्णन करता है—

(१) आत्मिक धार या सुरत का जमाव या टिकाव जिसे योग कहते है।

(२) मनुष्य के तीन भिन्न भिन्न शरीरों के तीन भिन्न भिन्न प्रकार का भोजन—स्थूल अथवा भौतिक, सूक्ष्म अथवा मानसिक और कारण अथवा आत्मिक।

(३) दिव्य मनुष्य (परमेश्वर मनुष्य रूप में) और तत्वतः परमेश्वर (परम पिता) का वर्णन है।

(४) आत्मा अमर है और पूर्ण से पूर्ण ही निकलता है।

प्रत्येक मनुष्य की आध्यात्मिक केन्द्रों पर अपनी आत्मा (सुरत) को चढ़ाने का अभ्यास शब्द द्वारा करना चाहिये जो शब्द कि जीवित पुरुष के अन्तर में गूंज रहा है, किन्तु वह उससे अनभिज्ञ है। राधास्वामी मत सुगमतम मार्ग अध्यात्मिक केन्द्रों पर चढ़ने का निर्धारित करता है, और इसी तरह परम पुरुष राधास्वामी की प्राप्ति कराता है।

आनन्द योग उस युक्ति और क्रिया को बतलाता है जिसके द्वारा उक्त परम पुरुष के राज्य को पृथ्वी पर लाकर स्थापित करता है।

सत् पुरुष सत्गुरु की योग और राधास्वामी मत के सम्बन्ध में वाणी—

सिद्धान्त साधन (क्रिया) से पहिले आता है परन्तु सिद्धान्त ही सब कुछ नहीं है किन्तु केवल एक सीढ़ी है और साधन का प्रारम्भ है। सिद्धान्त का समझ लेना ही आदमी को पूर्ण नहीं बना सकता। वह साधन से ही पूर्ण बनता है। यह पुरानी उक्ति है जो हर एक जानता है कि साधन मनुष्य को पूर्ण बनाता है।

प्रत्येक विचार प्रणाली में तीन महत्वपूर्ण अंग होते हैं—

पहला अंग—कल्पना या विचार करना है जो कि प्रारंभिक क्रिया है या तत्व खोजने का परिचय या प्रारंभ है। इसमें इस तरह के प्रश्न होते हैं कि हमको ऐसा ऐसा काम क्यों करना चाहिये अथवा क्यों न करना चाहिये। क्यों एक काम दूसरे से अच्छा है आदि आदि। इन चीजों का विवेचन ही तत्व की खोज है। तत्वज्ञान और उसकी खोज मनुष्य में जब ही विकास पाते हैं जब वह उनको अमल (साधन) में लाता है।

दूसरा अंग उन महापुरुषों की जीवनियां हैं जिन्होंने साधन किया है और जिन्होंने सफलता प्राप्त की है। ये महापुरुष पहिले तो स्वयं अपने कार्य में सफल हुये। फिर उनकी जीवनियां उन पुरुषों के लिये ज्ञान दाता का काम करती हैं जो मार्ग को अन्धेरे में टटोलते हैं। यह कहावत है कि किसी नियम के वर्णन करने वाले से उस नियम का पालन करने वाला बहतर है (कथनी से करनी बड़ी है) और यहां हम अपने पाठकों को याद दिलायेंगे कि नियम और कुछ नहीं है केवल उन

सिद्धांतों का वर्णन करना, विस्तार करना और वचन बद्ध करना है जबकि उदाहरण उन चतुर विशेषज्ञ और सफल पुरुषों की जीवनियां हैं जिन्होंने जिज्ञासुओं के, जो साधन करना चाहते हैं, मनके भीतर अटके हुए संशय और भ्रमों को दूर किया है।

तीसरा अङ्ग—अभ्यास उसी प्रकार किया जावे जैसे कि पुराने विशेषज्ञों ने किया है। यह अभ्यास क्यों किया जाना चाहिये यह बात तत्व दर्शन में समझाई गई है। कवि ने क्या अच्छा कहा है:—

"महान पुरुषों की जीवनियां हमको याद दिलाती हैं कि हम भी अपनी जीवनी को उच्च बना सकते हैं। तत्व विवेचन (खोज) यदि क्रिया में परिणित नहीं किया तो वह एक मृत विचार की सूखी हड्डी के समान है जो उन्हीं शुष्क अन्वेषण कर्त्ताओं को रुचिकर हो सकती है जो अपना समय और शक्ति केवल कपोल कल्पनाओं में ही नष्ट करते हैं। धर्म पर चलना और धर्म के नियम दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। नियमों के बिना धर्म पर चलना नहीं है और इसी तरह नियम बिना चले हुये कुछ नहीं हैं।

बहुत से मिथ्या विचार और कुछ का कुछ समझना भारत के शिक्षित और अशिक्षित वर्गों में पाये जाते हैं। इसमें इनका दोष नहीं है। पुरुष जन्म से ही खोज करने वाला होता है। बचपन से बुढ़ापे तक वह प्रश्न ही करता रहता है और उसको उनके उत्तर मिलने का अधिकार है। यह उसका जन्म सिद्ध गुण है और इसको कोई दैवी या दुनियावी शक्ति उससे छीन नहीं सकती। यदि कोई उन प्रश्नों का ठीक उत्तर जानता है तो उसका कर्तव्य हो जाता है कि वह उनको प्रकट करे, परन्तु यदि वह स्वयं अनभिज्ञ है तो उसको वह बातें नहीं बनानी

RADHASWAMY DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

गुप्त नहीं है किन्तु इसके सिद्धान्त स्पष्ट हैं। कोई बात मत की गुप्त नहीं रक्खी गई। प्रत्येक बात इसकी स्पष्ट और प्रगट रूप में है। और हर एक बात को विस्तारपूर्वक यथा संभव समझाने का प्रयास किया गया है। यह सर्वसाधारण का विश्वास है कि योग एक गुप्त क्रिया है और इसकी हर एक चीज गुप्त रक्खी गई है। यह विचार बिल्कुल असंगत है योग भी एक दर्शन शास्त्र है। इसके सिद्धान्त और साधन अच्छी प्रकार वर्णन किये गये हैं और प्रमाणों पर आधारित हैं। इसी प्रकार राधास्वामी मत है जिसकी अपनी अलग योग पद्धति है जोकि तथ्यों पर आधारित है, और प्रमाणों से सिद्ध है। तो क्या यह आवश्यक नहीं है कि जिज्ञासुओं के संशयों को दूर किया जावे और योग के मूल सिद्धान्तों को यथाशक्ति स्पष्ट भाषा में खोलकर रख दिया जावे।

इस पुस्तक में आगे इस आवश्यकता की पूर्ति की गई है। पुराने ऋषियों का यह कहना है कि जागो, उठो, और मार्ग पर सावधानी से चलो और जब तक अपने उद्देश्य पर पहुँच न जाओ विश्राम का विचार तक न करो।

राधस्वामी मत का अनुयायी कहेगा—"आओ, अभ्यास करो, प्रयोग करो और अपने भीतर शिक्षा के सार का अनुभव करो यदि तुमको सच्चाई की लालसा है। जब तक साधन न करलो तब तक इस प्रणाली की न अधिक प्रशंसा करो और न निन्दा। आओ, अभ्यास करो और देखो, तो फिर तुम सत्य का साक्षात्कार करोगे।

(७) मेरे मित्र बहुधा मुझसे पूछते हैं कि राधास्वामी मत की शिक्षा क्या है और उसके प्रचार की क्या आवश्यकता है जब

और दूसरी जगह पहले से ही धार्मिक सम्प्र-
उपसंप्रदाय हैं। उनको मैं यह उत्तर देता हूं—

(क) राधास्वामी मत की शिक्षा का ध्येय आत्मीयता की प्राप्ति (राधास्वामी से एकता प्राप्त करना) इसलिये कि व्यष्टि आत्मा समष्टि आत्मा में मिलकर अपने आपको प्रगट करे और जन्ममरण की जो बन्धन अवस्थायें हैं उनसे मुक्ति प्राप्त हो जाय।

(ख) प्रकृति के राज्य में किसी वस्तु का प्राकट्य नहीं होता जब तक उसके लिये आवश्यकता या मांग नहीं होती। प्रकृति मितव्ययी है। निरर्थक वस्तु यहां जगह नहीं पातीं। जो कुछ यहां है वह अपना महत्व रखता है। यदि किसी वस्तु की मांग है तो उस मांग के पूरा करने का उपाय होना आवश्यक है। बहुत से पुरुष स्त्री ऐसे हैं जो प्रचलित तथा कथित धर्मों से संतुष्ट नहीं होते। तब ऐसे व्यक्तियों के लिये राधास्वामी मत का प्राकट्य हुआ है।

(ग) मेरा विश्वास है कि यह उत्तर पर्याप्त होंगे और साथ ही संतोषजनक होंगे। ऐसे व्यक्तियों के हितार्थ इस छोटी सी पुस्तिका का संग्रह किया गया है। यह पूर्ण नहीं है और न पूर्ण होने का दावा करती है। फिर भी इतनी विस्तरित है कि जिज्ञासु के विभिन्न प्रश्नों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

पंच योग चार्ट

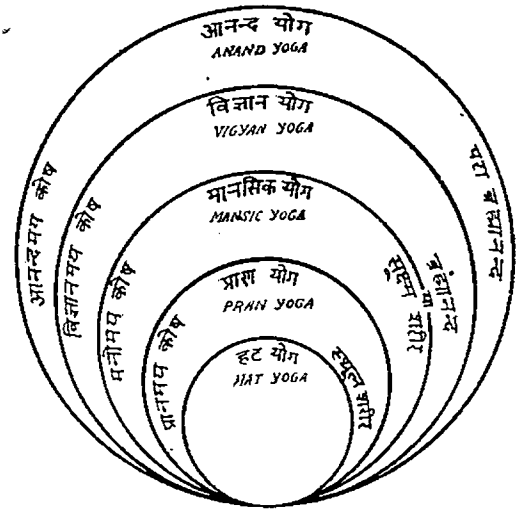
आनन्द योग
ANAND YOGA
विज्ञान योग
VIGYAN YOGA
मानसिक योग
MANSIC YOGA
प्राण योग
PRAN YOGA
हट योग
HAT YOGA
आनन्दमय कोष
विज्ञानमय कोष
मनोमय कोष
प्राणमय कोष
अन्नमय कोष
सूक्ष्म शरीर
स्थूल शरीर

भूमिका

योग का शाब्दिक अर्थ है जोड़, मेल, मिलाप, संगम। यह संस्कृत शब्द 'युज' धातु (जोड़ना) से निकला है। इस के मुख्य और गौण अर्थ में कोई भेद नहीं है। समता अथवा समभाव होना भी एक प्रकार का योग है। जब धार्मिक दृष्टि से ध्यान किया जाता है तब मन को किसी अव्यक्त वस्तु में टिकाना होता है जिससे वह उस में बंध जाता है। यह भी योग है।

अन्य अवस्थाओं की तरह योग की भी भिन्न-भिन्न श्रेणियां होती हैं। वह और कुछ नहीं है केवल मिलाप की वस्तु के साथ हमारे मेल की श्रेणियों या स्थितियों का वर्णन है। जब तुम किसी ऐसे स्थान में रहते हो जहाँ नदी बहती हो या जो नदी से सींचा जाता हो तो तुम एक प्रकार से उस से मिले जुले रहते हो क्योंकि नदी के सिंचित क्षेत्र में रहते हुए यह असम्भव है कि उसके शीतल वातावरण को जो उसके चारों ओर फैला हुआ है ग्रहण न करते हो या न खींचते हो। तुम उसमें बसते हो और एक प्रकार से उससे प्रभावित होते हो। संस्कृत में इसे 'सालोक' योग कहते हैं अर्थात् किसी विशेष लोक या मंडल से मिलाप। फिर जब तुम नदी के समीप आते हो तो उस मिलाप का दर्जा और बढ़ जाता है। वायु अधिक भीगी व शीतल होती है और तुम उससे केवल प्रभावित ही नहीं होते किन्तु उस वायु की जलमयी अवस्था के घनिष्ट संम्पर्क में रहते हो। इस प्रकार के मिलाप को संस्कृत में 'सामीप्य योग' या समीप का योग कहते हैं। इसी प्रकार जब तुम नदी के पानी में डुबकी लगाते हो तुम उसके जल से चारों ओर से ढक लिये जाते हो। जल तुम्हारे दायें बायें

ऊपर नीचे चारों ओर होता है। सिर से पैर तक सारा शरीर उस तत्व में सराबोर हो जाता है जो अब केवल बाहर का ही आवरण नहीं रहा बल्कि शरीर के अंग प्रत्यंग के अनन्त छिद्रों में रिसकर शरीर के भीतर भी प्रवेश कर गया है। निस्सन्देह तुम में और जल में अन्तर है परन्तु प्रत्यक्ष में जलाशय में मछली की तरह तुम पानी के अंग बन गये प्रतीत होते हो। संस्कृत में ऐसे मेल को 'सारूपयोग कहते हैं अर्थात् एक रूप होना।

इन तीन अवस्थाओं के पश्चात् आंतरिक मेल का दर्जा आता है जो कि ध्येय वस्तु के साथ नितान्त एक रूप हो रहना है। इस अवस्था में जीवात्मा अपने को पहिचान जाता है और भेद दृष्टि को छोड़ कर एक हो जाता है अर्थात् सिवाय अपने के भिन्न वस्तु नहीं समझता है। संस्कृत में इसको 'सायुज्य' योग कहते हैं जिसका अर्थ है पूर्ण सन्धि या पूर्ण एकता। यह योग दर्शन का सार है।

इन सब अवस्थाओं का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया गया है—

हठ योग—व्यष्टि शरीर का समष्टि शरीर से योग।

प्राण योग—व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से योग।

मानसिक योग—व्यष्टि मन का समष्टि मन से योग।

विज्ञान योग—व्यष्टि बुद्धि का समष्टि बुद्धि से योग।

आनन्द योग—व्यष्टि आनन्द का समष्टि आनन्द में मेल।

यह पांच प्रकार के योग इन पाँच कोषों पर आधारित हैं जो जीवात्मा को घेरे हुये है।

राधास्वामी पंथ के योगाभ्यास में साधक आनन्द मय कोष से अपनी साधना प्रारम्भ करता है और नीचे के कोषों का

अर्थात् अन्नमय, प्राण मय, मनो मय और विज्ञान मय कोष का विचार छोड़ देता है क्यों कि उनका योग अधिक महत्व का नहीं है, और उनका अभ्यास भी आपत्तिजनक और प्राय: हानिप्रद होता है जिसका परिणाम, मानसिक विकार या उन्माद हो सकता है।

'आनन्द योग' का अभ्यास सरल, सुगम और सम्भवत: व्यावहारिक हैं और वृद्ध, युवा, स्त्री पुरुष, बच्चे बड़े, सब बिना किसी हानि के कर सकते हैं और उस से परम लाभ उठा सकते हैं। मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक सब शक्तियाँ बढ़ जाती हैं और संपूर्ण शरीर रचना अर्थात् मानवीय संघात जो तीन शरीरों का बना हुआ है बड़ी सुन्दरता से उन्नत होता है। यह प्राकृतिक और दोष हीन भी है क्यों कि यह मन की प्रसन्न मुद्रा में आनन्दमय कोष के ही केन्द्र में साधा जाता है। अभ्यास कठिन प्रतीत नहीं होता है और इससे अति सुगमता से आध्यात्मिक उन्नति प्राप्त होती है। यही नहीं बल्कि आत्मा की चढ़ाई आनन्द मय कोष से भी आगे होती है जो कि जड़ और चेतन्य का सीमावर्ती देश है। इसकी विधि विस्तार पूर्वक आगे बतलाई गई है—

(२)

हर प्रकार की सिद्धि के लिये एक विशेष प्रकार की योग्यता की आवश्यकता होती है और योगाभ्यास भी इस सिद्धान्त से बरी नहीं हैं। जिन लोगों में स्वाभाविक रुचि और सहज प्रवृत्ति और प्राकृतिक योग्यता होती है केवल वही इस अभ्यास के अधिकारी माने जाते हैं। योग की प्रणाली में ऐसे जिज्ञासुओं को 'अधिकारी' की संज्ञा से संबोधित करते हैं। वास्तव में ऐसे ही योग्य व्यक्ति योगाभ्यास के भागी होते हैं। योग कई प्रकार का है जैसा कि अभी बता चुके हैं हठ योग, प्राण योग इत्यादि।

इनका अभ्यास बहुत कठिन है परन्तु 'आनन्द योग' पर यह बात लागू नहीं होती। यह अभ्यास बहुत सुगम है। कोई भी स्त्री पुरुष जो अभ्यास करने का इच्छुक है इस योग के सिद्धान्तों और अभ्यास के ज्ञान को किसी अनुभवी गुरू के द्वारा बिना किसी प्रकार की हानि के प्राप्त कर सकता है। देह, मन और बुद्धि को किसी प्रकार का भय नहीं है। अन्य योग प्रणालियों के साथ जो प्रासंगिक भय लगे हुए हैं वह इस में नहीं हैं। फिर भी इसका प्रचार व्याख्यान या उपदेशों द्वारा नितान्त वर्जित है। शिष्य की योग्यता गुरू ही को स्वयं निर्णय करना चाहिये। वही जानता है कि किस प्रकार साधक की यौगिक प्रवृतियों को उत्तेजित किया जा सकता है और पहले का अनुशासन उसके लिये कहां तक आवश्यक है। साधक बुद्धिमान अवश्य हो। तत्वतः उसकी मनोवृति धार्मिक भक्ति भाव से परिपूर्ण हो जो कि योग प्राप्ति और उससे आगे चलकर मोक्ष प्राप्ति की आकाँक्षा से प्रेरित हो। उसके दूसरे गुण हैं इन्द्रिय संयम, सब भूत प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव, चेतन्य जगत के लिये हित करने का ध्यान, मन की पवित्रता और सत्पुरुष परमपिता राधास्वामी के चरणों में श्रद्धा और शरण। उसको धार्मिक वाद विवाद से बचना चाहिये क्योंकि हर एक वाद हठ धर्मी पर आश्रित होता है जो कि संकुचित मनोवृति का लक्षण है।

आनन्द योग की प्राप्ति, निस्संदेह मन की परमानन्द अवस्था को पहुँचा देती है क्योंकि इसकी साधना आनन्दमय कोष में की जाती है। इस अभ्यास का श्री गणेश आज्ञा चक्र से होता है जो कि दोनों आंखों की भौंओं के बीच है और वहां सूक्ष्म शरीर का द्वार है। मन की परमानन्द अवस्था का

वर्णन करते हुये इसको यहाँ यह बताना आवश्यक है कि आनन्द कई प्रकार के होते हैं— शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक इत्यादि। मूर्ख लोगों का आनन्द शरीर में या शरीर सम्बन्धी वस्तुओं में या वाह्य पदार्थों में होता है। मनुष्य इस अवस्था में पशु के समान है। एक विचार शील या विवेकी मनुष्य का आनन्द मूर्ख मनुष्य के आनन्द से भिन्न है। उसका स्वभाव सोच विचार करने का है। अतः उस को चिंतन, दर्शन शास्त्र, नीति शास्त्र या धर्म शास्त्र आदि में आनन्द आता है। 'आनन्द योगी इन सबसे भिन्न है। उसका आनन्द आध्यात्मिक है जो कि उसके अपने ऊँचे चक्रों पर एकाग्र होने का परिणाम है। इस आध्यात्मिक आनन्द का बोध उसको उच्च आत्मिक क्षेत्रों में ले जाता है और अन्त में उसको मोक्ष पद प्राप्त होता है। आध्यात्मिक उन्नति आज्ञा चक्र से आरम्भ होती है। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जायेगी।

प्रसंग (३)

जीव तीन लोकों से बंधा हुआ है—पार ब्रह्मांड, ब्रह्मांड और जीवाण्ड अर्थात पिंड या शरीर। इसी प्रकार मनुष्य तीन शरीरों में बंधा हुआ है। वह हैं कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीर। इसी प्रकार वह अपने को तीन प्रकार की चेतना की जंजीरों से जकड़ा पाता है। वह हैं जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति।

जैसी सृष्टि है वैसा ही उसका सृष्टा है। वह सृष्टा प्रकृति में संयुक्त करण शक्ति है जिसको राधास्वामी मत वाले काल या महा काल कहते हैं। वह सृष्टि के समस्त धर्मों का सर्वोच्च देव है। बंधा हुआ वह चूंकि स्वयं है इसलिये वह सबको बाँधता है। बंधन का विचार उसी से और उसके अहंकार से उत्पन्न होता है। यह ब्रह्मांड का शासक है और जब तक जीव अपने

को उसके राज्य में बसा हुआ मानता है वह उन अवस्थाओं के बंधन से मुक्त होने का स्वप्न भी नहीं देख सकता। यह उसी की इच्छा है कि जीव बंधन में रहें।

इन सब के परे स्वतंत्रता की वह बन्धन रहित अवस्था है जिसको योग परिभाषा में तुरिया अवस्था कहते और राधा स्वामी मत के अनुसार चौथा पद है।

राधास्वामी मत इस चौथी अवस्था की प्राप्ति पर अधिक बल देता है जिसकी झलक तक भी उनमें से बहुत कम को आती है जो काल और माया के बन्धन में फंसे पड़े हैं। यह सार तत्व है और इसका परम शासक राधास्वामी दयाल है। यही कारण है कि कुछ भक्त जन बोल चाल की भाषा में बिना अर्थ समझे यह स्तुति करते हैं।

अखिल पिता परमेश्वर, नाम है तेरा पावन।
इस पृथ्वी पर आजाये, तेरा स्वर्गिक शासन॥

यह प्रार्थना प्रगट करती है कि जिसने इसको रचा था उसको इस सार तत्व का कुछ भान था, यद्यपि वह इस सत्य को मानवीय मस्तिष्क में ठीक ठीक उतारने में असफल रहा। प्रकृति के त्रिगुणात्मक क्षेत्र उसी सार तत्व की प्रतिबिम्बित मूर्तियाँ हैं। यह क्षेत्र जड़ तत्व का क्षेत्र है जो कि अपनी स्थूल सूक्ष्म और कारण अवस्था में रहता है। सार तत्व इनसे परे हैं। वास्तव में वह आत्मिक क्षेत्र है जहां आत्मा का परम शासन है। यह इसका निर्विवाद क्षेत्र है, जो त्रिपुटी, द्वन्द और एकत्व से भी परे का है क्योंकि यह तो प्रकृति की अभिव्यक्ति (इजहार) के भिन्न भिन्न रूप हैं। प्रार्थी भक्त उस पूर्ण अवस्था को इस अपूर्ण स्थल पर अथवा अमर आत्माओं के मृत्युलोक में उतारने की कामना करता है।

भक्त हर समय उस गूढ़ मंत्र को या नाम को जपता रहता है

जिस का अर्थ उसको स्पष्ट नहीं है। तीन में एक और तीन का दावा करता है पर यह सब कुछ करता है बि[illegible] अन्दर दिव्य शक्ति पर सुरत को एकाग्र किये और बिना उस दिव्य लोक में सुनने के जो कि उस के अपने अन्तर में विद्यमान है। कार्य और कारण का मूल उस कारण रहित एक में है। किस प्रकार यह कारण रहित तत्व कार्य और कारण बनाने को प्रवृत्त होता है एक सर्वव्यापी पहेली है जिसका हल आनंद योग के अभ्यास से ही होता है।

प्रसंग (४)

यह विषय असाधारण है और हर पग पर उसके क्लिष्ट होने का भय है जिसे हम बचाना चाहते हैं। हमारा उद्देश्य उसकी क्लिष्टता को कम करने तथा उन पाठकों के, जो उसका रसास्वादन करना चाहते हैं, हृदयांकित करने के लिये उसे सबसे सरल, व्यावहारिक और रुचिकर रूप में रखने का है।

पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हम तीन आकारों— कारण, सूक्ष्म और स्थूल, जिनको हमने परब्रह्मांड, ब्रह्मांड तथा पिंडांड अर्थात कारण शारीरिक लोक, सूक्ष्म शारीरिक लोक और स्थूल शारीरिक लोक की संज्ञा दी है, से घिरे हुये हैं। कारण के बिना कार्य नहीं होता और कारण अपने कार्य की विभिन्न स्थितियों में व्यापक रहता है। कारण एक है और उसके परिणाम प्रत्यक्ष दृष्टि से कम से कम दो होते हैं। कार्य का क्षेत्र कम से कम उसका स्थूल रूप इतने अधिक विवरणों से बना है कि हमें उसके विभिन्न निर्दिष्ट या नियत रूपों का वर्णन करना सम्भव नहीं है। जैसे हम आगे बढ़ेंगे इसका वर्णन करेंगे।

आरंभ से ही यह ध्यान में रख लेना चाहिये कि प्रत्येक ब्रह्माण्ड अपने विभिन्न भाग (मद) में उन छोटी छोटी बूंदों

से बनने वाले जलाशय अथवा स्रोत के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार हम विरोध के भय के बिना कह सकते हैं कि कारण लोक उन समस्त कारणों का उद्गम अथवा स्रोत है जो उसमें गुप्त रूप में रहते हैं परन्तु पीछे आने वाली स्थितियों में विस्तार पाते हैं और प्रकट हो जाते हैं। इसी भाँति सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड में सूक्ष्मता के वे सम्पूर्ण विभाग होते हैं जो नीचे अपने अनेक तथा विस्तृत रूपों में प्रकट होते हैं। इसी प्रकार स्थूल ब्रह्माण्ड अनेकानेक स्थूलताओं का स्रोत है जो क्रमिक विकास में बाह्य आकृतियाँ धारण कर लेते हैं। कारण तत्व मानो बीज है और उतार (Devolution) फैलाव (Involution) तथा विकास (Evolution) उसके भिन्नभिन्न रूपान्तर हैं। उसका स्फुटन होता है, वह विकसित होता है, फैलता है और फलता है। कारण अपने परिणामों (कार्य) में छिपा रहता है।

हम समझते हैं कि यहां तक हमने इस तत्व को संतोष-जनक ढंग से समझा दिया है। अब उसका विस्तार से वर्णन करना है।

जीवधारियों की चेतना की तीन अवस्थायें होती हैं अर्थात जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति। यह सुषुप्ति ही कारण है। यह मूल उद्गम में को वापिस होना है। वहां प्रत्येक वस्तु लय हो जाती है जिस प्रकार कि बीज अपने वृक्ष, शाखाओं, पुष्पों फलों, पत्तियों आदि को लय कर लेता है। यह उन सबका सारांश है जो प्रगट हुआ था। स्वप्न की क्रिया प्रगट होने की सूक्ष्म अवस्था है। उसमें हर वस्तु पृथक पृथक रूप से बड़ी बारीकी से गुथी होती हैं। इसका उदाहरण बीज के आंतरिक रूप से अंकुर फूटने, कोंपल निकलने, फूलने फलने आदि से दिया जा सकता है, जैसे कि देह धारी व्यक्ति जब वह

RADHASWAMI DAYAL KI DAYA RADHASWAMY SAHAY
PURNADAYAL

स्वप्न में निमग्न और उस से विरा होता है अपने अन्तर लोकन में देवता, अनुभव करता तथा परीक्षण करता है। यह कर्म अंतर्वर्ती वृद्धि की भीतरी प्रकिया तक सीमित है जबकि जाग्रत अवस्था का बाह्यरूप से क्रमशः बढ़ना है, जहां कि कारण घनीभूत या ठोस होकर आंखों को प्रत्यक्ष होता है। वह नन्हीं बूंद जब इस प्रकार कारण से स्थूल में जाती है अपनी तीन अवस्थायों को प्राप्त करती है जो उसमें प्राकृतिक हैं। इस प्रकार से वह अपने ही आपे में जागता है, स्वप्न में जाता है और सुषुप्ति में लीन होता है अर्थात् यह तीन अवस्थायें त्रिभुज भंडार से गुथी हुई हैं। यह इसी छोटी (अव्यक्त) सी सत्ता में है कि हम तीन में एक का और एक में तीन का सिद्धांत पाते हैं। यह एकत्व है और त्रेत एकत्व में मिला हुआ है।

प्रसंग (५)

अब हम और भी आगे विस्तार करते हैं। जाग्रत पुरुष को अपने शरीर के इन्द्रिय मंडल में कार्य करते हुये संस्कृत में "विश्व" कहा जाता है। यहाँ वह अपनी इन्द्रियों के स्थूल भोजन का उपयोग करता है। यह आहार उस की स्थूल देह के पोषण के लिये आवश्यक है जो उसको बंधन में रखता है। जैसा भक्त है वैसा ही उसका देवता। इस विराट मंडल में प्रधान देव, जो इन नन्हे जीव धारियों को धारण करता है, इन जाग्रत अवस्था वाले प्राणियों के दृष्टि कोण से 'विश्वानर' कहलाता है। स्थूल विराट ब्रह्माण्ड का यह स्वामी है जो सागर की भांति करता है और जिसमें जाग्रत पुरुष निवास करता है। वह में व्यापक है और कोई भी प्राणी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं है। वह इनमें अंतर्व्यापी है और और सर्वशक्तिमान है।

दूसरी अवस्था में अर्थात् इस सूक्ष्म शरीर में स्व
पुरुष, जो इस स्थूल शरीर में प्रविष्ट है, का नाम "
कहलाता है जो अपने ही तेज से देदीप्यमान है अर्थात् स्वप्न चेतना का जिसको चेत है या जानकारी है और जो सूक्ष्म शरीर के लिये पुष्टिकर आहार जो चिन्तन, वोधन तथा मनन आदि हैं उन का भोग करता है। जैसे कि स्वप्न देखने वाला अपने सूक्ष्म शरीर के अंतर में प्रवेश कर विचारों तथा कल्पनाओं में तल्लीन हो जाता है और कल्पित चित्रों से मनमें खेलता है, इसी प्रकार स्वप्न देखने वाला देवता सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में है। वह सूक्ष्म रचनाओं का भंडार है। सूक्ष्म स्वप्न द्रष्टा व्यक्तियों के दृष्टिकोण से वह देवता "अन्तर्यामी" कहलाता है अर्थात् वह सम्पूर्ण सूक्ष्म रचनाओं में व्यापक है। वह इस ब्रह्मांड का परम शासक है और पूर्ण रूपेण उसकी व्यवस्था का नियंता (नियम में चलाने वाला) है। वह इसमें रहने वाले जीवधारियों का समूह या समष्टि है। शब्द अंतर्यामी संस्कृत की 'अंतर' (भीतर) और 'यामिन' (देखना) नामक दो धातुओं से बना है। यामिनी का अर्थ रात भी होता है।

तत्पश्चात् तीसरी अवस्था "सुषुप्ति," स्वप्न रहित निद्रा, गाढ़ निद्रा अथवा तल्लीनता है जहां न जाग्रति है न स्वप्न है। इस क्षेत्र में रहने वाले व्यष्टि प्राणी को शास्त्रीय भाषा में "प्राज्ञ" कहते हैं यह शब्द संस्कृत के 'परिज्ञान' या 'प्राज्ञ' से निकला है। जिस का अर्थ शुद्ध ज्ञान है। वह मानो अपने आप में पूर्ण है। उसकी चैतन्यता वहाँ पूर्ण होती है। उसमें भेद दृष्टि और अपूर्ण दृष्टि नहीं रहती। इस अवस्था में उसे किसी प्रकार की आवश्यकता या इच्छा नहीं रहती। वहां प्राणी आनन्द का भोग करता है जो कारण शरीर के लिये पौष्टिक आहार है। इस अवस्था में सुषुप्त पुरुष व्यक्तिगत होते हुये भी अपनी

व्यक्तिगत अवस्था को इस कारण में, कारण समुद्र में अथव
कारण स्रोत में तीन कर देता है। कारण ब्रह्माण्ड का नियन्ता,
नियात्मक तथा शासक परमदेव "हिरण्य गर्भ" तथा 'सूत्रात्मा'
कहलाता है।" जैसे वस्त्रों में अनेक सूत्र होते हैं वैसे ही सब
उसमें तथा उससे बंधे हुये हैं। यहाँ वह सर्वज्ञ है और सम्पूर्ण
जगत में व्यापक है।

अब ब्रह्मांडी जगत और पिंडी जगत का यह वर्णन संक्षिप्त
होते हुए भी पूरा है जिसके द्वारा व्यक्तिगत आत्मा तथा
विश्वात्मा में समानता दिखलाता है। यहाँ तीन में एक तथा
एक में तीन के सूत्र का अंत होता है तथा एकत्व में त्रेत और
त्रेत (तीन) में एकत्व का वर्णन समाप्त करते हैं।

प्रसंग (६)

उपरोक्त तीन अवस्थाओं में रहता हुआ पुरुष जो बन्धन
में है सत अथवा अध्यात्म के शिखर पर नहीं पहुँचता।
चौथी अवस्था के पहुँचने के लिये दीक्षा की आवश्यकता है
जहाँ उसे परम पिता के मिलाप के परम सुख की प्राप्ति का
अवसर मिलता है। इसी का संकेत इतने धर्म ग्रन्थों में गूढ़
तथा रहस्य मय शब्दों में किया गया है। सही शब्दों में यह
तीन अवस्था शुद्ध अध्यात्म नहीं हैं। चूंकि यह कार्य कारण
का देश है जहां कारण तथा कार्य के आवरण में अध्यात्म ढका
रहता है। इस अवस्थाओं में मनुष्य जो बोता है वही काटता
है। इन तीन अवस्थाओं में कारण तथा कार्य का नियम काम
करता है अर्थात् कर्म प्रधान है। जैसा जो करता है वैसा
भोगता है। जो कुछ भी उपदेश इन तीन अवस्थाओं के संबन्ध
में दिये जाते हैं वे मनुष्य को समता की ओर नहीं ले जाते।
एक रूपता तक पहुँचने का तो प्रश्न ही क्या है।

एक मनुष्य पुण्यात्मा हो सकता है, नीतिज्ञ हो सकता है, सदाचारी हो सकता है किन्तु उसमें आध्यात्मिकता का भाव नहीं आता। अध्यात्म उन से भिन्न वस्तु है। ये सदाचार, नीति आदि केवल लौकिक रीतियां अथवा आवश्यक सामाजिक नियम हैं जिनका मानव जाति के समाज संगठन के लिये होना महत्त्वपूर्ण है। उनकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। अर्थात उनको छोड़ना नहीं चाहिये। उपरोक्त सदाचार आदि ऐसे उपनियम हैं जो मानवीय व्यवस्था चलाने को आवश्यक है। यहाँ नीचे इस संसार में कारण से कार्य तक प्रकृति का हमें सामना करना पड़ता है। यहां प्रकृति (माद्दा) अपने भिन्न भिन्न रूपों में सब से बड़ा कारण है जिसने आत्मिक सत्ता को बंधन में बाँध रक्खा है।

प्रकृति मंडल से बाहर आत्मीयता (सत) की खोज की जानी चाहिये। उसका राज्य चौथे पद में है मृत्यु लोक में नहीं। बहुत कम मनुष्य इन उपदेशों को समझ पाते हैं क्योंकि यह रहस्यमय हैं और इन अर्थों को खोल कर रखना ऐसा है जैसे सुअर के सामने मोती बखेरना। अपने आपे का अध्ययन करो और देखो कि यह कथन कहां तक ठीक है। इन सृष्टियों के रहिस्यों का हल यदि किसी तरह किया जाना है तो वह देहधारी पूर्ण पुरुष में मिलता है। वह एक है तथा वह ही तीन है। वह ही तीन है तथा वह ही एक है। वह ही पूर्ण पुरुष कारण (Holy Ghost) है। वह सूक्ष्म (God The Father) है। वह स्थूल (God The Son) है।

क्या यह त्रिलोकी का राज्य उसके अन्दर तथा उसकी आत्मा में नहीं है ? मनुष्य कितना अज्ञानी है कि वह शब्द के सिद्धान्त अथवा सूत्र को बिना तात्पर्य्य समझे बिना दोहराता रहता है ? क्या इससे उसका भला होगा ? (नहीं होगा)

यदि सही कहा जाय तो अभी तक उसे उस सत्य की झलक भी नहीं मिली है और वह उस (सारवस्तु) के मंडल से बाहर है।

इस ईश्वर (सारवस्तु) के राज्य की जितना हो सके अपने ही अन्दर खोज करो, किन्तु यह कथन दूर का है और किसी व्यक्ति की समझ में सरलता से नहीं आसकता। जितना चाहो अँधेरे में भटकते रहो; जब तक सतगुरू योगाभ्यास की क्रिया द्वारा तुम्हें मार्ग दर्शन नहीं करायेगा, तुम्हें ज्योति नहीं मिलेगी और हमें भय है कि तुम उस ज्योति का स्पष्ट आभास नहीं पा सकोगे, जो ऊपर अपने पूर्ण और दिव्य तेज से कहीं तुम्हारे निकट ही, तुम्हारे अन्दर और तुम्हारे बाहर देदीप्यमान है। ईश्वर का विश्वास तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन जरा भी सहायक नहीं होंगे। महा पुरुष का यह संदेश उन जिज्ञासु जीवों के लिये है जो सत्य के प्यासे हैं और उस से कम वस्तु से उनकी तृप्ति नहीं होगी।

प्रसंग (७)

ऐसा नहीं है कि हर व्यक्ति आध्यात्मिक हो जाय। मनुष्य स्वर्ग के सुख की इतनी इच्छा नहीं करता जितना वह पृथ्वी के सुख की कामना करता है। चारों ओर देखो और स्वयं इस बात की सचाई की पुष्टि कर लो।

आत्मिक उन्नति चाहने वाले मनुष्य का उस दिव्य ज्योति को प्रगट करना आवश्यक है जो कि उस के आपे के अन्दर है, क्योंकि स्वर्ग का मार्ग स्वयं उसके तथा उसके आपे के द्वारा है और यह अन्तराग्नि अथवा आंतर्प्रकाश उसे धीरे धीरे उस दिव्य ज्योतिर्पुञ्ज तक पहुंचा देता है। यह अंतर में चौथे पद का चिन्ह है। दीक्षित साधक को उसका भान होता है, वह देखता है और उस से प्रभावित होता है। अंतराग्नि अर्थात्

झिल मिलाती हुई सुप्त पड़ी हुई चिनगारी, दीक्षा के संस्कार से सुलग कर प्रज्वलित हो जाती है और ज्योति के खोजी को आगे आगे बढ़ाती लेजाती है अन्यथा ज्ञानेन्द्रियों की लहरों के भँवर में वह प्रतिदिन नीचे उतरता रहता है और प्रति रात्रि अपने कारण शरीर में चढ़ता रहता है। "खाओ, पीओ, मौज करो," ऐसे ही व्यक्तियों का आदर्श है। उन की इच्छाएं होती हैं पर उनकी तृप्ति नहीं होती क्योंकि आवश्यकताओं के जगत में आवश्यकतायें बहुत बढ़ जाती हैं। एक इच्छा अंशतः पूरी होती है कि हजारों और खड़ी हो जाती हैं और चारों ओर से उसे उसी तरह घेर लेती हैं जिस प्रकार पानी का घड़ा भरने वाला पानी भरते समय पानी निकलने से पैदा हुए गड्ढ़े को चारों ओर से पानी के वेग से उस गड्ढ़े को भरा पाता है। कोई भी व्यक्ति इच्छा हीन तथा आवश्यकता हीन रहने की आशा वहां कैसे कर सकता है जहां इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की प्रबलता है। इन्द्रियाँ और मन दिन प्रति दिन उनके वंश को उत्पन्न करती रहती हैं और वे तीन शरीर-कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल के निवासी को शान्ति और स्थिरता नहीं पाने देती हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लियें बहुत उपदेश की आवश्यकता नहीं है। केवल ऊपर की चढ़ाई ही एक प्रमुख कदम है जो बंधन में पड़ी हुई आत्मा को मुक्ति तथा मोक्ष के पद पर पहुंचाने में सहायता करता है। दीक्षा की अग्नि में प्रवेश करना ही पहली क्रिया है जिसके द्वारा दैवी आदर्श का विचार जिज्ञासु को दिया जाता है। यह दोनों साथ साथ चलते हैं और जब अन्तर में कुछ उन्नति हो जाती है और उन्नति शील व्यक्ति उस आदर्श का अनुभव करता है तो उसे तीसरी क्रिया अर्थात् शब्द सिद्धान्त सिखाया जाता है। यहां हम जीवन, ज्योति तथा प्रेम की भक्ति के तीन साधनों का आश्रय

लेते हैं जो ऐसी अवस्था में लेजाते हैं जहां यह तीनों परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं और सत में तीनों का भेद जाता रहता है जो सत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सत एक या दो या तीन नहीं है। जब यह स्थिति आजाती है तो इस स्थिति में पहुँचे हुये व्यक्ति पर दिव्य दया की वर्षा होती है। वहीं और उसी समय शान्ति और सद्इच्छा का शासन सर्वोपरि होता है जो और किसी अवस्था में नहीं होता।

प्रसंग (८)

भक्ति के दो मार्गों का संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जा चुका है। वे दोनों मार्ग मिलकर पवित्रात्ति पवित्र मंदिर की ओर तीर्थ करने वाले यात्री के मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। तीसरे और सबसे महत्वपूर्ण मार्ग का संकेत यहां दिया जाता है।

"शब्द निष्ठम् जगत" ऐसा कहा गया है अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति नाद अथवा शब्द से हुई है और उसी के सहारे ठहरी हुई है। वास्तव में इसे यों कहना चाहिये था "शब्द निष्ठम् ब्रह्म" या "शब्द निष्ठम् अखिलम्" अर्थात ब्रह्म और सब किसी की उत्पत्ति नाद या शब्द से हुई है और वे उसी के सहारे ठहरे हुये हैं।

आदि में नाद के अतिरिक्त कुछ नहीं था। यह नाद अप्रकट था। उससे उसका प्रगट होना आरम्भ हुआ। शक्ति किसी जगह क्रियावान हो गई और उससे शब्द का थरथराहट धीरे धीरे आगे बढ़ा और गोलाकार आकृति में अनगिनित लोकों का अस्तित्व और रूप हो गया जैसे आग से चिंगारी अथवा जल स्रोत से बुलबुले हो जाते हैं। गति सदैव वक्र रेखा के

रूप में होती है और इन वक्राकार गतियों या थरथराहटों से अनेक ब्रह्मांड पैदा हो गये जिनकी तीन अवस्थाओं (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) का वर्णन पहले किया जा चुका है। ये तीनों उस चौथी अवस्था के नीचे स्थापित किये गये हैं जो स्थिर है, जो पवित्रों में भी पवित्र है।

इस प्रकार 'वह' 'मैं' 'तू' आदि की जड़ तथा आधार शब्द में है। यहां, वहाँ तथा अन्य स्थानों पर दायें बायें शब्द ही है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर, ऊपर तथा नीचे प्रत्येक जगह चारों ओर शब्द ही है। समस्त मूर्तिमानों अमूर्तिमानों का अस्तित्व शब्द में है। शब्द ही परम आनन्द का लक्षण है। आत्माओं की आत्मा शब्द है। प्रकाशों का प्रकाश शब्द है। सिद्धान्त तथा साधनायें भी क्या हैं, शब्द ही हैं। सृष्टा, सृष्टि तथा प्राणी शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। कुछ धर्मग्रन्थ शब्द को ही ईश्वरीय वाक्य कहते हैं जो रचना में अहंकार (मैं अमुक हूं मैं अमुक हूं) के उत्पन्न करने की शक्ति है और सर्वत्र व्यापक है। शब्द यह भी है और कुछ और भी है। जो कुछ है, जो कुछ होगा, तथा जो कुछ था वह सब शब्द के सिवाय कुछ नहीं है। सबका सब शब्द और वाक्य शक्ति से प्रगट हैं और सब शब्द में हैं और शब्द में ठहरे हैं।

सबका वर्णन शब्द से किया जाता है। शब्द ही वचनीय है और शब्द ही अनिर्वचनीय है। ईश्वर क्या है ? शब्द ने ईश्वर का पुरुष रूप धारण किया है। तुम, हम, वह अथवा वे क्या हैं ? शब्द के ही पुरुष रूप हैं। यह वह वस्तु है जो सबका सारभूत पूर्ण रूप से और अंश रूप से है विभाज्य तथा अविभाज्य, सीमित तथा असीमित, विचार और निर्विचार, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष यह सब शब्द ही हैं। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के प्रवाहों में शब्द उनके सार में विद्यमान

है। चिन्तन, बोधन और मनन की शक्तियों का शब्द ही जान है। कारण में, कार्य में जो कुछ पाया जाता है वह शब्द है।

तब शब्द क्या है? शब्द वह सृजन शक्ति है जो स्थिर शक्ति मंडल के नीचे गति सम्बन्धी हलचल के द्वारा काम करता है। वह आद्योपान्त तथा सर्वत्र व्यापक है। उसके बिना कुछ भी जीवित नहीं रह सकता। सबका अस्तित्व उसी में है। ईश्वर ईश्वरपन, देव देवत्व, मनुष्य मनुष्यत्व, पशु, पशुत्व, आत्मा आत्मीयता, भूत, भौतिकता आदि इस में इस प्रकार मिले तथा गुथे हुये हैं जिस प्रकार वस्त्र में धागे। उसके महत्व को अब तक बहुत कम ने अनुभव किया है। उसका चाहे वैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा अन्य किसी भी विधि से वर्णन करो अंत में प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व इसी में है। विस्तार में चाहे वह समिष्ट में हो अथवा व्यष्टि में, सब कुछ केवल शब्द ही है।

यह जीवन, ज्योति तथा प्रेम है। यह शक्ति संस्कृत में चैतन्य कहलाती है।

जीव रूप में वह शब्द कंपित धाराओं में उतरता तथा चढ़ता है और ऐसा स्वाभाविक संगीत पैदा करता है जो सुनने वाले के हृदय को आह्लादित कर देता है। उसका यह रूप प्रेम तथा आनन्द है। उसका मध्य रूप ज्योति (ज्ञान) है। वहाँ पर भी वह कम्पन अथवा प्रति कम्पन करता है। वहाँ वह बुद्धि, चित्त, मनन की शक्तियों को उत्पन्न करता है और कोई विवेक इसके बिना अपना कार्य नहीं कर सकता। यह सम्पूर्ण है और सर्वस्व है।

आनन्द योग में इसे सुख का सच्चा सार माना जाता है और साधक जो आध्यात्मिकता के मार्ग पर आगे बढ़ता है, अपने को अति हर्षित तथा उसमें तल्लीन पाता है और इस

प्रकार वह सुख तथा सुगमता के साथ ऊपर के मंडलों में आगे ही आगे उन्नति करने में समर्थ होता है। वह कोई घबराहट, कष्ट या परिश्रम अनुभव नहीं करता। यह तब तक जारी रहता है जब तक वह उस लक्ष्य पर नहीं पहुँच जाता जो स्वयं शब्द अपने मूल अनामी, अरूप तथा अलख अवस्था में है।

हे स्वर्गीय संगीत! पवित्रातिपवित्र तीर्थ के यात्री के मार्ग दर्शक देवदूत! प्रत्येक आत्मा के सच्चे सत्गुरू। वे व्यक्ति बड़-भागी हैं जो तेरे स्वर में तल्लीन हैं (अर्थात् तेरे जैसे स्वभाव वाले हैं और तेरा जैसा आचरण करते हैं)। तुम स्वयं देदी-प्यमान चेतना हो। तुम इन्द्रियों के क्रीड़ोद्यानों में विचरण करते हो, कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में भ्रमण करते हो तथा मन की समस्त विवेक शक्ति के आंतरिक छिद्रों को भरते हो।

बड़भागी हैं वे व्यक्ति जो तेरे स्वर में तल्लीन हैं। अहा! तुम कितने मनोहर हो। नीचे से ऊपर तक केवल शब्द ही शब्द है। तुम लौकिक हो, दैवी हो, भूलोक और स्वर्ग से भी कुछ आगे हो।

बड़भागी हैं वे व्यक्ति जो तेरे स्वर में तल्लीन हैं।

शब्द तीसरा मार्ग है जिसका आश्रय भक्त लेते हैं। यह अड़ियल तथा हठी मन पर नियन्त्रण करने की सबसे सुगम तथा सरल क्रिया है। यही कारण है कि इसे इतना महत्व दिया गया है। यह मार्ग कैसे दिखलाया जाता है यह दीक्षा का विषय है जिसका वर्णन यहां आवश्यक नहीं है।

जिज्ञासु को अग्नि की चिनगारियों तथा सूर्य और चंद्रमा की जगमगाती हुई किरणों द्वारा इस संस्कार को ग्रहण करना होता है।

नोट—यह वर्णन अलंकार रूप में है क्यों कि जो पुरुष दीक्षित हो जाता है उसको पता चल जाता है कि वह ही प्रकाश आदि का केन्द्र है जैसे कि सूर्य चन्द्र और अग्नि हैं और वह अपने इस प्रकाश को दूसरों को दे सकता है इसी प्रकार जिस तरह यह ज्योतियां देती हैं।

प्रसंग (६)

रचना की प्रारम्भिक अवस्था में दिव्यता की स्थिर तथा गतिशील अवस्था थी, है और रहेगी। स्थिर ऊपर है तथा गति नीचे। स्थिर अवस्था पृथक है। इस स्थिर अवस्था के नीचे गति बिना विशिष्ट आकार के कम्पायमान होती हैं और शक्तियों में आकर्षण विकर्षण उत्पन्न होता है और अणु और परमाणुओं आदि की खिलबाड़ होने लगती है और ये परमाणु धनात्मक और ऋणात्मक रूप में प्रकट और अप्रकट होते रहते हैं। यह मिलकर कारण रचना करते हैं। तत्पश्चात् स्वाभाविक परिणाम यह है कि सूक्ष्म रचना होती है और उस के बाद स्थूल सृष्टि प्रगट होती है जैसा कि अन्य स्थान में बतलाया गया है।

साधक पुरूष का मार्ग सुष्मना नाड़ी के भीतर है जो नीचे से सीधा ऊपर और ऊपर से भी ऊपर के देशों को जाता है। यह इड़ा और पिंगला नाड़ियों के बीच में रस्सी की तरह है। "इडा" नली के से आकार की नाड़ी है जो शरीर के बायें भाग में है और प्राण शक्ति की नाड़ियों में से एक है। पिंगला भी उसी प्रकार की नली शरीर के दाहिने भाग में है। सुष्मना स्थूल शरीर में गुदा से सूक्ष्म और कारण शरीरों में होकर सीधे ऊपर स्थित लोक में जाती है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। मार्ग उसमें होकर है।

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण अर्थात् प्रत्येक मंडल में छः महत्व पूर्ण चक्र हैं। कुछ शक्तियाँ सामर्थ्य और तत्व आदि इन चक्रों में रहते हैं। इनका विस्तृत वर्णन योग की पुस्तकों में मिलता है। पाठकों को स्थूल शरीर के चक्रों का थोड़ा सा आशय आगे दिये चित्र से मालूम हो जावेगा। पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिये कि ये चक्र स्थूल मंडल में स्थूल, सूक्ष्म मंडल में सूक्ष्म और कारण मंडल में कारण हैं।

हमारे विषय का सही अध्ययन जारी रखने के लिये हम पाठकों का ध्यान पिंड के षट चक्रों के चार्ट पर जो पृष्ठ २४ के सामने है और चित्र द्वितीय जो पृष्ठ २५ के सामने है दिलाते हैं।

नोट—इन चक्रों के बहुधा जोड़े बना दिये गये हैं जैसे-

(१) मूलाधार और स्वाधिष्ठान या गुदा चक्र और इन्द्रिय चक्र अर्थात् जल और थल का लोक एक है।

(२) मणिपुर और अनाहत या नाभि चक्र तथा हृदय चक्र अर्थात् अग्नि और वायु का लोक एक है।

(६) विशुद्ध और आज्ञा चक्र या कंठ चक्र तथा त्रिनेत्र चक्र अर्थात् आकाश और मन का लोक एक है। ब्रह्मांड तथा पार ब्रह्मांड देशों के समझने के लिये यह वर्णन पाठकों को सहायक होगा। अतः यहाँ उसका संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक था।

प्रसंग (१०)

चित्र के दिखलाये गये छः केन्द्र मानव शरीर की स्थूल देह की रचना को बतलाते हैं। इनको पृष्ठ २५ के सामने दिये गये चित्र नं० २ में दिखलाया है। राधास्वामी पंथ के अनुयायी अपने अभ्यास में इन चक्रों को छोड़ देते हैं क्योंकि वे स्थूल हैं। वे ऊपर के स्थानों अर्थात् ब्रह्मांड के मानसिक देश

के प्रतिबिम्ब मात्र हैं जो तीसरे नेत्र से आरंभ होता है यह ग्रंथि पिंड तथा ब्रह्मांड को जोड़ने वाला बिन्दु है साधन यहां से शुरू होता है। इस के ऊपर ब्रह्मांड देश है जो मस्तिष्क में तीसरे नेत्र से शून्य तक है जैसा कि पृष्ठ २६ के आगे चित्र नं० ३ में दिया है।

जैसे कि पिन्ड स्थूल शरीर का देश है वैसे ही ब्रह्मांड मानसिक रचना का देश है। शास्त्रीय परिभाषा में इसका नाम ब्रह्मांड अर्थात् ब्रह्म का अंडा है। एक पिन्डी है दूसरा ब्रह्मांडी। इन दोनों में समानता है। तीसरे चित्र में छः के स्थान परकेवल तीन स्थानों का ही वर्णन किया गया है, मानो दो दो का एक एक जोड़ा बना दिया गया है। उनके जोड़े बनने के कारण उनके तीन रूपों को ही वृत्तों के आकार में दिखलाया गया है। इसके स्पष्टीकरण के लिये पाठकों को नवें प्रसंग के अन्त में दिये गये नोट को पढ़ना आवश्यक है जिस में यह बतलाया गया है कि स्थूल शरीर में स्थूल चक्रों का जोड़ा कैसे बनाया गया है? यहाँ उन सूक्ष्म चक्रों को केवल तीन वृत्तों के रूप में दिखाया गया है।

देहधारी जीवात्मा या तो जाग्रत, या स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था में रहता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक मन (सूत्र आत्मा) अथवा ब्रह्म या तो जाग्रत या स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था में रहता है। दोनों में जाग्रत अवस्था पूर्ण रूप में चैतन्य प्राकट्य की दशा है जब कि उनकी स्वप्न अवस्था उनकी मानसिक चेतनता है और तीसरी अर्थात् सुषुप्त अवस्था अपने स्वयं में अंतर्लीन होने की स्थिति है। इस प्रकार तीनों अवस्थाएं दोनों में समान है।

जीवित देहधारी व्यष्टि जीवात्मा जाग्रत अवस्था में 'विश्व' कहलाता है क्योंकि वह ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और

नाड़ी मंडल और करोड़ों रोम छिद्रों द्वारा अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुये सिर से पैर तक हजारों रूपों में अपना प्राकट्य करता है। इसकी तुलना में जाग्रत ब्रह्म को "विराट" (बड़ी ध्वनि करने वाला) कहा गया है। उसके सहस्रों नेत्र, सहस्रों सिर, सहस्रों हाथ आदि हैं। उसका स्थान सहस्र दल कमल या हजार दल वाला कमल कहलाता है।

देहधारी जीव स्वप्न देखने की स्थिति में "तेजस" कहलाता है जो अपने निजी स्वाभाविक प्रकाश से देदीप्यमान है और चिन्तन, विवेक और भिन्न भिन्न कार्यों के पहचानने के दृष्टिकोण से त्रिभुजात्मक है। ब्रह्म इस अवस्था में 'अंतरयामी' कहलाता है जो त्रिभुजात्मक रूप में भीतर काम करता है, गुह्य अन्तर में विराम करता है और अन्तर में काम करता है जैसा कि तीसरे चित्र में वृत्त के भीतर त्रिभुज द्वारा दिखाया गया है। स्वप्न दृष्टा ब्रह्म का यह स्थान त्रिकुटी कहलाता है अर्थात तीन विशेषताओं की तीन क्रियाओं में लीन जैसे कि नीचे उसके प्रतिबिम्बित रूप जीव की दशा है।

स्थूल लोक में सुषुप्त जीव का नाम "प्राज्ञ" (पूर्ण विवेक) है जिसमें किसी वस्तु का अभाव नहीं होता और वह अपनी ही आत्मा में आत्मनिर्भर और आत्म संतुष्ट होता है। सुषुप्त ब्रह्म का नाम 'हिरण्यगर्भ' (स्वर्ण का अन्डा) अथवा सूत्रात्मा है। वह अपने ही में गुथा हुआ आंतरिक रूप में लीन रहता है। इस स्थिति में वह आंतरिक या बाह्य रूप से न सृष्टि की रचना करता है न प्राकट्य करता है और न अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि जैसा मनुष्य है वैसा ही ब्रह्म है।

अब हम परब्रह्मांड के मंडल पर आते हैं जो मानसिक

भौंओं से ऊपर

चित्र नं० ४

कारण
या
परब्रह्माण्ड
चक्र
या
कारण
शरीर के
चक्र

१—महा शून्य
२—भंवर गुफा
३—सतलोक

लोक के आगे है और कारण रचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जैसा कि पहिले कहीं दूसरी जगह वर्णन किया गया है। वह बीज रूप है और उसका देश मनुष्य के मस्तिष्क में है। उसकी स्पष्टता के लिये हमने उसके केन्द्रों के स्थान पृष्ठ २७ के सामने चौथे चित्र में दिये हैं।

कारण कारण है और यह कारण ही है जो अपने अवसर पर प्रभावित होता है जैसे कि बीज कारण है जो उगता है और अनेक रूपों में फलता है आदि आदि।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि सतलोक जहाँ चौथा पद आरंभ होता है ऐसा लोक है जो इस कारण लोक से मिला हुआ ऊपर है। यह नियम थोड़ा सा पेचीदा हो गया है। फिर भी सतलोक समग्त जीवन का केन्द्र है क्योंकि वही सत है और उसका प्रतिबिम्ब कारण लोक बतलाता है।

सतलोक सिर में स्थित है जहाँ खोपड़ी की हड्डियों के गोल भाग सिले या जुड़े हुए हैं। वह नाम तथा रूप का केन्द्र है। नवजात शिशु में तुम वहाँ एक प्रकार की हरकत देख सकते हो जो लप लप करती है और सत, सत सत के समान आवाज करती है।

मूलाधार से प्रारंभ होने वाले सत लोक तक के इन चक्रों की संख्या बारह है। शास्त्रीय भाषा में उनको द्वादश चक्र कहा गया है।

हठ योगी अपना अभ्यास मूलाधार चक्र से आरंभ करते हैं और सहस्र दल कमल पर समाप्त कर देते हैं जिसको हठयोगी सहस्रार अथवा सिर का शीर्षचक्र भी कहते हैं जो सहस्र दल कमल से प्रारंभ होकर सिर के सब से ऊपर के भाग तक जाता है जहाँ हिन्दू चोटी रखते हैं और उसे संयुक्त नाड़ी मंडल का केन्द्र मानते हैं। इस प्रकार वे बीच के इन

चक्रों को छोड़ देते हैं जिसका ज्ञान बहुत कम व्यक्तियों को होता है।

राधास्वामी मत पर विश्वास करने वाला व्यक्ति अपनी साधना आज्ञा चक्र से आरंभ करता है जो आनन्द मय कोष का केन्द्र है और उसे सतलोक तथा उससे भी आगे तक जारी रखता है।

अधिकाँश योगियों को सतलोक अन्तिम स्थान हो जाता है। वहाँ पहुँचने पर फिर आत्मोन्नति अलख, अगम तथा राधास्वामी धाम तक, जो सिर का सब से ऊपरी भाग है (पृष्ठ २८ के सामने चित्र देखिये) सुगम हो जाती है। सतलोक तक नाम, रूप तथा रंग की चर्चा संभव है। उस से आगे उनको स्थान नहीं है। वहाँ न तो एकत्व है और न त्रेत (तीन)। 'अहम' (मैं) अकथनीय है। वह केवल अनुभव ज्ञान है।

प्रसंग (११)

यह योग न तो कठिन है और न अव्यावहारिक। यह सरल है। आवश्यकता इस बात की है कि शिष्य दक्ष तथा योग्य हो जो अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में रख सकता हो। यह क्रिया स्वयं गुरू सिखाता है।

योग का नाम संदेह से इतना घिरा हुआ है कि नया शिष्य घबड़ा जाता है। वह नहीं जानता कि यह क्या है। यह स्पष्ट शब्दों में बतलाया भी नहीं गया है और यह कहा गया है कि योग मस्तिष्क से चलने का मार्ग है न कि पैरों से। जो व्यक्ति इधर उधर न देखता हुआ नाक की सीध में चलता है वही शिष्य के रूप में स्वीकार करने योग्य है। मनुष्य एक उल्टा हुआ प्राणी है जिसका नीचे का भाग ऊपर हो गया है अतः योगी को अपने भीतर उल्टे मार्ग पर चलना पड़ता है।

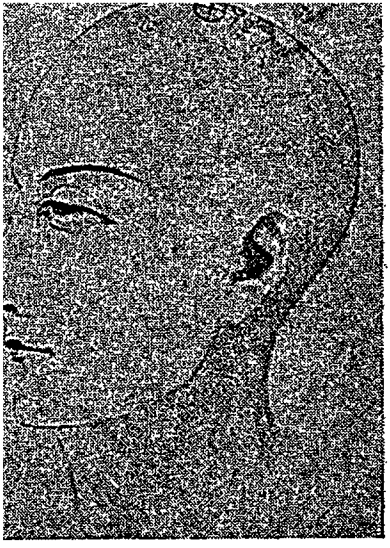

चित्र नं० ५

चौथा पद

चक्र

(+) सतलोक।

१—अलख लोक। २—अगम लोक ३—राधास्वामी धाम

जो मार्ग संसार में प्रचलित ध्यान की अन्य पद्धतियों से बिल्कुल उलटा है।

तथापि यह कहावतें अक्षरशः सत्य हैं। यदि इनकी सही व्याख्या की जाय तो सारी शंकायें तथा भ्रम दूर हो जावेंगे। मनुष्य ऊर्ध्वमूल प्राणी है। मनुष्य को अपनी नाक की दिशा में सीधे चलना है। मनुष्य का कर्तव्य सिर में होकर चलना है। योग के सरल सिद्धातों की सही व्याख्या आगे की जाती है।

(१) सुषम्ना नाड़ी सीधी नाक के छिद्र से होती हुई सिर की चोटी तक जाती है। यही वह मार्ग है जिस पर से यात्री को पवित्रातिपवित्र धाम तक पहुँचने के लिये चलना पड़ता है।

जो व्यक्ति अपने सिर के बालों को बीच में से काढ़ते हैं और नाक की सीध में पटिया बनाते हैं वे इस पटिया की दिशा के द्वारा इस मार्ग का संकेत करते हैं। नाक की सीध में चलने का तात्पर्य भी यही है। यात्री को चेतावनी दी जाती है कि वह इस मार्ग के दायें या बायें को न मुड़े। यह व्याख्या कितनी सरल है। पहले यह बातें अभ्यासियों के लिये घबराहट और भ्रम उत्पन्न करने वाली थीं, किन्तु इस उपरोक्त व्याख्या से सारी रुकावटें तथा डर तुरन्त लोप हो जाते हैं।

(२) प्राचीन काल में ऋषियों ने सृष्टि की व्यवस्था में मनुष्य को ऊर्ध्वमूल वृक्ष कहा है जिसकी जड़ ऊपर आकाश की ओर हैं और जिसकी शाखायें पृथ्वी की ओर पलटी हुई हैं। बनावट में मनुष्य और वृक्ष समान हैं। त्वचा, रक्त, मज्जा, चर्बी, पानी, नस, नाड़ियाँ, शिरायें आदि दोनों में समान हैं। वे अपने मुखों से खाना खाते और पानी पीते हैं जो उनके सिरों और जड़ों के अलावा और कहीं नहीं हैं।

वे एक समान ही सोचते तथा काम करते हैं। मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियां उसके सिर में हैं और इसी प्रकार वृक्षों की इन्द्रिय शक्ति उनकी जड़ों में है। यद्यपि वे सर्वथा समान हैं तथापि उनमें उल्टेपने का ऐसा भेद है जिसे हटाया नहीं जा सकता। वृक्ष का सिर भूमि में जमा रहता है जबकि मनुष्य का आकाश में हिलता है। उन्हें चाहे जड़ कहो या सिर, उनका तात्पर्य एक ही है। वास्तव में मनुष्य की टांगें और हाथ शाखायें हैं जो नीचे लटक रही हैं जबकि वृक्षों में ऊपर उठी हुई हैं। वृक्ष अपने फूलों और फलों को ऊपर पैदा करते और बखेरते हैं किन्तु मनुष्य की दशा बिलकुल इस के विपरीत है। वह अपने फूलों तथा बीजों को नीचे बिखेरता है आदि आदि।

(३) वृक्ष अपनी जड़ों से विचार करता है और मनुष्य अपने मस्तिष्क से। दोनों की जीवन शक्ति अंगों तथा शाखाओं की अपेक्षा मस्तिष्क या जड़ में अधिक है। वृक्ष का भौतिक अस्तित्व उसकी जड़ में है जब कि मनुष्य की विचार धारा उसके मस्तिष्क में एकत्रित है। वह जड़ से सोचता है और मनुष्य मस्तिष्क से। जब कभी मनुष्य कुछ जानना चाहता है वह अपने चित्त को मस्तिष्क के ऊपरी देश में लेजाता है। क्रियात्मक (अमली) रूप में वह वहाँ चल कर जाता है और यह मालूम करता है कि वहाँ उसके एकत्रित संस्कार इकट्ठे हैं या नहीं। यही शक्ति स्मरण शक्ति कहलाती है और यही सिर द्वारा चलती है। इसी भांति अध्यात्म के समस्त देशों का स्थान भी मस्तिष्क में सर की चोटी तक है और मनुष्य को इस रास्ते से चलना पड़ता है। उसे अपने मस्तिष्कीय पैर मानों ऊपर जमाते हुये और भौतिकता (माद्दे) के इन मंडलों को अपने पैरों के नीचे दबाते हुये,

पक्षी की भाँति ऊपर ही ऊपर तब तक उड़ना होता है जब तक कि परम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता। इसकी तुलना मस्तिष्क द्वारा चलने से की गई है। क्या यह यथार्थ नहीं है? हाँ, किन्तु इस में अभ्यास आवश्यक है। इसके लिये व्यवहारिक (अमली) ज्ञान चाहिये और ऐसे गुरु की संगत चाहिये जो अनुभवी हो और जिस में विश्वास हो।

यह व्याख्या उन भटकाने वाले विचारों के लिये पर्याप्त है जो अज्ञानी व्यक्तियों के मुख से निकलते रहते हैं।

अब अभ्यास या साधना के बारे में कहते हैं।

यदि किसी ने अपने मन को थोड़ासा भी वश में कर लिया है तो वह सुमिरन, ध्यान तथा भजन की सहायता से अभ्यास को अपने लाभ के लिये जारी रख सकता है।

सुमिरन पवित्र नाम का मानसिक जाप है जो हमें आन्तरिक मार्ग में ले जाता है। ध्यान पवित्र आदर्श का मानसिक चिन्तन है जो हमारे आन्तरिक मार्ग को प्रकाशित करता है। और भजन पवित्र ध्वनि (शब्द) का मानसिक श्रवण है जो हमें आँतरिक पवित्र धाम का पता बतलाता है। यहाँ क्या कठिनाई है?

पवित्र नाम का निरर्थक उच्चारण न करो। अभ्यास के समय ही उसका सहारा लो। ध्येय की पूर्त्ति के लिये ही प्रत्येक कार्य करना चाहिये।

उद्देश्य हीन कार्य तुम्हें अपने स्वभाव का दास बना देगा। तब तुम्हारे यहाँ, वहाँ या और कहीं काम करने की विधि स्वामी जैसी न होगी किन्तु दासों की सी प्रवृतियां स्वचालित यंत्र की भाँति रस्म व रिवाज की सी होंगी।

ध्यान का परिणाम ज्योति (प्रकाश) है, अथवा यों कहो कि केन्द्रों में छिपी ज्योति फूट पड़ेगी और तुम्हें ज्योति के

केन्द्र को ले जावेगी। यह कितना सुखकर तथा आनन्दमय है।

इसके पश्चात् ध्वनि (शब्द) सिद्धान्त है। दिव्य संगीत तुम्हें मोहित करते हुए, सम्पूर्ण में डुबाते हुए, तथा उन गंधर्वों के, जिनके राग का माधुर्य न तो स्वर है न व्यंजन, न मानव के मुख से जिसका उच्चारण होता है, तुम्हारे साथ साथ चलेगा जो अनर्वचनीय है। वह अकथ और अनुपम है। यह कितना अद्भुत है। इनके होते हुये हम यह कैसे कह सकेंगे कि आनंद योग का साधन कठिन तथा अरोचक है। इसको समझना कठिन नहीं है तथा इसका अभ्यास भी कठिन नहीं है।

प्रसंग (१२)

अभ्यास सुगम है, व्याख्या कठिन है। पूर्ण गुरू साधन मार्ग को यथा संभव सरल बना सकता है। सृष्टि की व्यवस्था के संबन्ध में यदि कोई पूर्ण रूपेण वर्णन करे तो वह उन पाठकों की दृष्टि में हास्य योग्य होगा जो इन विषयों पर बच्चे की भाँति अबोध हैं।

शीर्ष चक्र से सतलोक तक शक्ति स्थिर अवस्था में है और उस के नीचे शक्ति की अवस्था गतिमान है जहाँ परम देव की उल्टी छाया अथवा प्रतिविम्बित प्रतिमा है। उस उलटे प्रतिविम्बित देव ने वास्तविक दिव्य परमदेव को अपने आपे में पूर्ण वैभव के साथ देखा और अपने अन्तर में सोचा कि 'वह मैं हूँ' और इस कारण उसका नाम, 'सोऽहम' पड़ा।

वह (प्रतिविम्बित) देव ही सब का कारण है और उस का सत लोक से 'महा शून्य' तक का मंडल 'पर ब्रह्मांड' है। वह परब्रह्म है। अतः इसकी रचना भी परब्रह्मांड होती है।

यह पारब्रह्म नीचे उलटा प्रतिविम्ब फैंकता है और इस

तरह सूक्ष्म ब्रह्म की रचना करता है। यह ब्रह्म है जो सोचता है और बढ़ता है। बुद्धि के इस सूक्ष्म लोक में ही बढ़ने तथा सोचने वाली शक्ति पूरा खेल करती है और उससे मानसिक रचना होती है।

इस ब्रह्म ने अपना प्रतिबिम्ब नीचे स्थूल भौतिक लोक में फेंका और बहुत से उलटे प्रतिबिम्बित रूपों में प्रकट हुआ। ये देहधारी पिंड कहलाते हैं और उनके लोक का नाम स्थूल लोक है। यहां पर हम नाशवान जीवों का स्थान है।

तीन अवस्थायें—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति परब्रह्माण्ड में भी थीं, इसलिये वह प्रत्येक लोक में जो उसके पीछे क्रम से बनते हैं उनमें भी हैं।

उपरोक्त वर्णन से यह समझ में आगया होगा कि यहाँ नीचे केवल उलटी प्रतिबिम्बित प्रतिमा है। सत परे है और यह ठीक है। मनुष्य उलटा ऊर्ध्वमूल प्राणी क्यों कहलाता है यह ग्यारहवें प्रसंग में समझाया गया है। फिर भी मानलो कि एक वृक्ष किसी झील के किनारे पर खड़ा है। इस वृक्ष की छाया नीचे पानी में पड़ती है और उसकी जड़ें आपस में मिली हुई जान पड़ती हैं। इसी प्रकार यह कल्पना करो कि यह उल्टा वृक्ष फिर उलटे रूप में प्रतिबिम्बित होता है और पहले वृक्ष की शाखा पिछले वृक्ष की शाखाओं से मिली हुई हैं जिसकी जड़ें और भी नीचे हैं। अब चौथी बार विचार करो कि उस वृक्ष की अपनी पारी में फिर उलटा प्रतिबिम्ब नीचे को है। इसकी जड़ें पहले वृक्ष की जड़ों से मिली हुई हैं उसकी शाखायें नीचे लटक रहीं हैं। यही मनुष्य है और इसी कारण हमने उसे उलटा वृक्ष कहा है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है न्याय विरुद्ध नहीं है। हम स्वीकार करते हैं कि यह हमारे इन्द्रिय ज्ञान से बाहर है

किन्तु इसे अन्तर्ज्ञान से सिद्ध किया जा चुका है और यदि यह अन्तर्ज्ञान से दृष्टिगोचर नहीं है तो कम से कम विवेक शक्ति से इसका अनुमान किया जा सकता है।

यही दिव्य मनुष्य की अधोगति है अथवा स्वर्ग हानि की घटना है।

प्रसंग (१३)

मनुष्य के तीव्र और नियम पूर्वक अध्ययन होते हुये भी विषय का समझना कठिन है। हमारी इच्छा थी कि हम प्रत्येक वस्तु का वर्णन विस्तार में करते परन्तु यह बड़ा लम्बा विषय हो जायगा। फिर भी जो कुछ संक्षेप में कहा गया है वह मनुष्य के मस्तिष्क में सत्य की प्रतीति कराने के लिये पर्याप्त है।

जिस प्रकार जीवन का उल्टा मृत्यु है उसी प्रकार सृष्टि का उलटा प्रलय है। यदि कोई व्यक्ति यहाँ बताई गई क्रिया को नहीं समझ सकता तो वह सार बचन राधास्वामी नज्म (काव्य) के पृष्ठों का अवलोकन करें जिस में सृष्टि तथा प्रलय दोनों का ही विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह इस प्रकार है।

शरीर पृथ्वी का बना है। इस कारण जब मृत्यु का समय आता है उसकी जीवन शक्ति भीतर खिचने से गुदा चक्र में केन्द्रीभूत हो जाती है क्योंकि वही मिट्टी अथवा पृथ्वी का उचित स्थान है। उसके नीचे सब कुछ ठंडा और निर्जीव हो जाता है और जीवन शक्ति की कोई चिनगारी उसमें शेष नहीं रहजाती।

पृथ्वी जल का परिणाम है अथवा जल ही से पृथ्वी उत्पन्न होती है जैसे समुद्र का जल भाग उत्पन्न करता है। पृथ्वी जमा हुआ ठोस भाग है। इसलिये पृथ्वी की चैतन्यता जननेन्द्रिय के, जो जल का स्थान है, चक्र के केन्द्र में खिच गई।

इस प्रकार पृथ्वी जल में लय हो गई। अब जीवन उस केन्द्र में है जबकि नीचे वाली ग्रंथि बिलकुल निर्जीव है।

फिर, क्योंकि जल अग्नि से उत्पन्न होता है, अथवा अग्नि जल का मूल उद्गम है, अतः वह जल अपनी बारी में ऊपर उठता है और अग्नि उसे सोखती अथवा सुखा देती है और वह सत्ता हीन हो जाता है। अब नाभिचक्र, जो अग्नि का स्थान है, गर्म है जबकि नीचे सब ठंडा है। अग्नि की शक्ति यहां रहती है। दूसरे स्थानों से हट जाती है।

अब अग्नि हवा की गति का परिणाम् थी। इस कारण धार ऊपर उठकर हृदय की नाड़ी में पैठ जातीहैं। वहां हृदय धड़कता है और नीचे सब निर्जीव हैं। इस प्रकार अग्नि वायु में मिल गई।

अब यह आकाश है जिसमें से वायु का अस्तित्व था। अतः अपनी बारी में वायु की गति ऊपर उठती है और आकाश में मिलकर एक हो जाती है। यहां कंठ चक्र कार्य कर रहा है जबकि उसके नीचे सब निर्जीव हैं।

यह आकाश मानस (मन) से हुआ था, अतः वह त्रिनेत्र या आज्ञा चक्र में चला गया। जीवन शक्ति अब वहां है जबकि उसके नीचे सब शान्त है। यह मानस अथवा मन शक्ति प्रकृति अथवा सत-रज-तम से निकली थी जिसका चक्र त्रिकुटी है और जो ओंकार अथवा अन्तर्यामी का वास स्थान है।

उस स्थान से जीवन धारा उस प्रधान चक्र सोहंकार के ऊपर उठ जाती है जो परब्रह्म का लोक है और इस प्रकार कार्य कारण में लय हो जाता है और शरीर तथा नीचे की रचना की पूर्ण प्रलय हो जाती है। चौथी अवस्था (सतलोक) जो स्थिर है उसमें प्रलय नहीं है।

प्रसंग (१५)

मनुष्य जागता, स्वप्न देखता, तथा गहरी नींद में जाता है। प्रतिदिन यह कार्य वह नियमित रूप से करता है। यह उसकी देह में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण मंडल हैं। वह स्थूल में जागता है, सूक्ष्म में स्वप्न देखता है और कारण मंडल में गाढ़ निद्रा में होता है।

कारण रचना में मूल प्रकृति का मुख्य अंग अहंकार ही उसका प्रतिनिधि है। प्रकृति सत, रज, तम मयी त्रिगुणात्मक है जो ज्ञान, राग और मोह की शक्तियाँ हैं। कारण रचना में वे बीज रूप में परस्पर सम अवस्था में रहती हैं। सूक्ष्म रचना में अहंकार स्वयं बुद्धि, मन और चित के रूप में प्रगट होता है और प्रकृति पाँच तत्व वाली–आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, हो जाती है।

यह तत्व मिलकर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के रूप में प्रकट होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ निम्न हैं—

(१) श्रवणेन्द्रिय—कान, सुनने की गोलक।
(२) स्पर्शेन्द्रिय—त्वचा, स्पर्श करने की गोलक।
(३) दर्शनेन्द्रिय—चक्षु, देखने की गोलक।
(४) रसनेन्द्रिय—जिभ्या, चखने की गोलक।
(५) घ्राणेन्द्रिय—नाक, सूँघने की गोलक।

कर्मेन्द्रियाँ नीचे लिखे अनुसार हैं—

(१) वागेन्द्रिय— जिभ्या बोलने वाली।
(२) हस्तेन्द्रिय— हाथ, पकड़ने वाली।
(३) पादेन्द्रिय— पैर, चलने वाला।
(४) उपस्थेन्द्रिय—जननेन्द्रिय, आनन्द लेने वाली और सृष्टि कर्म करने वाली।

(५) पायुवेन्द्रिय—गुदा, मल त्यागने वाली।

ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान के विषय पाँच हैं।

शब्द तन मात्रा, स्पर्श तन मात्रा, रूप तन मात्रा, रस तन मात्रा, गंध तन मात्रा।

ये तथा अन्य जिनकी यहां गणना नहीं की गई सूक्ष्म लोक में अपने सूक्ष्म रूप में वैसे ही पैदा होते हैं जैसे कि स्वप्न द्रष्टा स्वप्न देश में देखता है।

सूक्ष्म सृष्टि जाग्रति के देश में स्थूल हो जाती है जहाँ इन्द्रियाँ अपने विषयों से क्रीड़ा करती हैं, अन्यथा दोनों समान हैं। स्वप्न देश में स्वप्न द्रष्टा सीमा अथवा बंधन के भावों से इतना बंधा हुआ नहीं होता जितना कि जाग्रत व्यक्ति अपने को जाग्रत अवस्था अर्थात् भौतिक जगत में पाता है।

मैं चाहता था कि मैं अन्य विषयों की भी यहाँ व्याख्या कर देता किन्तु यह भूमिका बहुत लम्बी हो जावेगी। अतः इसकी पाठकों से क्षमा याचना की जाती है।

प्रसंग (१५)

हम समझते हैं कि जो कुछ ऊपर कहा गया है उसे पाठकों ने पूर्णतः समझ लिया होगा। यदि ऐसा है तो जो कुछ हम आगे वर्णन करेंगे उसे समझ सकेंगे।

जो ऊपर हैं वह नीचे भी हैं। नीचे ऊपर की उल्टी अवस्था है। सृष्टि की व्यवस्था में पृथ्वी अन्तिम श्रेणी है। यह ठोस है जिसके ऊपर जल, अग्नि, वायु और आकाश अपने-अपने खेल खेलते हैं। यह संभव न होता यदि नीचे की तह में ऊपर वाली तहों के टिकाव की शक्ति न होती।

पृथ्वी मानों एक तरह से ऐसी हो जाती है जिसको हम

स्थिर कहते हैं। जिस प्रकार ऊपर की स्थिर (Static) अवस्था के नीचे सृष्टि की व्यवस्था की गति अपना काम करती है वैसे ही नीचे पृथ्वी पर यही होता है। (इन वाक्यों को आगे बढ़ने से पहिले दो तीन बार पढ़ो)। नीचे तो केवल ऊपर की उल्टी अवस्था है। इस प्रकार जो कुछ ऊपर है उस सबका प्रतिबिम्ब नीचे पड़ रहा है। उदाहरणार्थ जैसे कि दर्पण के सामने खड़े होने पर तुम्हारा प्रतिबिम्ब शीशे में पड़ता है वैसे ही यहां नियम के अनुसार ऊपर की छाया पड़ती है। पृथ्वी स्वर्ग है तथा स्वर्ग पृथ्वी है। शरीर में वही एक है जो दर्पण में। अन्तर केवल अवस्था का है। ऊपर सत (बिम्ब) है और नीचे असत (प्रतिबिम्ब) है। सत शरीर में निवास करता है। इसकी छाया दर्पण में है, अन्यथा दर्पण में स्वयं कोई छाया नहीं है। मुझे विश्वास है कि मेरे भाव को समझ लिया गया है। अतः मैं आगे वर्णन करता हूँ।

परमलोक के परम देव से पहिले पहल नाद (शब्द) उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार यहां भौतिक मंडल में भी वही तत्व अर्थात् नाद (शब्द) प्रगट हुआ।

रचना क्या है? केवल विचार का आकार। नाद (शब्द) या तो विचार की मूर्ति है या अमूर्ति। संसार चाहे अधिकतम् अविकसित रूप में हो, वह केवल शब्द (नाद शक्ति) है।

शब्द चार प्रकार का है—

(१) परा (२) पश्यन्ति (३) मध्यमा (४) वेखरी

(१) परा परम शब्द है। उसकी प्रतिध्वनि या नाद तब तक सुनाई नहीं देता जब तक कि कान उस दर्जे की अवस्था प्राप्त नहीं कर लेते और वह 'आनंद योग' की साधना में होता है जिसे दूसरे शब्दों में 'शब्द योग' भी कहा जाता है। यह संस्कृत की "प्रि" (भरना) धातु से निकला है। यह सारी

रचना में व्यापक है। यह शब्द का सबसे श्रेष्ठ रूप है—अदृश्य अव्यक्त, अगम्य अपरीक्षणीय इत्यादि।

(२) 'परा' के पश्चात् शब्द का दूसरा रूप 'पश्यन्ति' है जिसे अंशतः एक प्रकार से देखा, विचारा, समझा तथा जाना जा सकता है। पश्यन्ति संस्कृत की 'पश्य' (देखना) धातु से निकला है। यह शब्द आकार की अवस्था में है। यह भी तब तक सुनाई नहीं देता जब तक कि सुनने की शक्ति उस दर्जे तक न पहुँच जाय। अग्नि के एक गोले की कल्पना करो जिसे बिना किसी प्रकार की ध्वनि के चुपचाप मंडलाकार घुमाया जा रहा है। वास्तव में उस में शब्द (ध्वनि) है परन्तु सुनाई नहीं देता।

यह कारण अवस्था शब्द शक्ति की है जिस का ध्यान तुम्हें रखना चाहिये ताकि तुम अगले कथन को समझ सको।

(३) शब्द (नाद शक्ति) की इससे अगली अवस्था सूक्ष्म है जो 'मध्यमा' कहलाती है। यह संस्कृत की 'मध्य' (बीच) धातु से निकली है। इस अवस्था में सृष्टि की उत्पत्ति विचार में आजाती है और आकृति विचार में बन जाती है जहाँ शब्द 'यह' और 'वह' भी प्रगट हो जाते हैं।

(४) इस मध्यमा के नीचे 'वैखरी' शब्द है जो उसका स्थूल आकार है। 'वैखरी' संस्कृत की 'वि' (पहले) 'ख' (ज्ञानेन्द्रिय) तथा 'रा' (पाना वा देना) से निकला है। अर्थात् जो पहले था उसको ज्ञानेन्द्रिय द्वारा दिया जाना है। यदि सही कहा जाय तो 'वैखरी' वह शब्द है जो मुख से बोला जाता है।

ये शब्द की चार श्रेणी हैं जो मूलाधार अर्थात् गुदाचक्र के ऊपर अपना कार्य करती हैं। उनकी जगह नाभि के नीचे, नाभि से हृदय में तथा मुख में है। यहां भी जैसा ऊपर वर्णन किया है कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल तीन अवस्थायें हैं और इससे परे चौथी अवस्था है।

'पश्यन्ति' कारण है। 'मध्यमा' सूक्ष्म है तथा 'वेखरी' स्थूल है। मध्यमा, पश्यन्ति और 'वेखरी' को उसी प्रकार जोड़ती है जिस प्रकार सूक्ष्म ब्रह्मांड, पिंड तथा परब्रह्माँड को जोड़ता है। यह तुमको मालूम ही है कि परब्रह्माँड कारण रचना है, ब्रह्माँड सूक्ष्म रचना है और पिंड स्थूल रचना है। इन तीन ब्रह्माँडों से ऊपर राधास्वामी धाम रूहानियत (आत्मीयता) की ऊँचे से ऊँची चोटी है। वह चौथी अवस्था है वैसे ही 'परा' शब्द इन 'वेखरी', 'मध्यमा' और पश्यन्ति से परे है अर्थात् शब्द की चौथी अवस्था 'परा' है।

प्रसंग (१६)

मुझे भरोसा है कि मैंने चौथे पद के आशय को भिन्न भिन्न प्रकार से दुहराया है जिससे कि तुम आनन्दयोग की शिक्षाओं को समझने योग्य हो सको।

अब इस शिक्षा का सबसे अधिक महत्व पूर्ण भाग आता है। यदि तुम ध्यान दोगे तो वह तुम्हारे लिये अधिक उपयोगी होगा।

प्राचीन समय में जबकि लोगों की दृष्टि बाहरी थी और मनुष्य अपने शरीर की ओर अधिक ध्यान देते थे आनन्दयोग का अभ्यास प्राणायाम द्वारा मूलाधार चक्र से सिखाया जाता था, परन्तु वह जो कुछ करते थे उसका आशय नहीं समझते थे। तुमने स्वयं समझ लिया होगा कि 'परा शब्द' के अगम, अगोचर, अश्रवणीय होने के कारण यह पहली सीढ़ी उनके लिये निरर्थक थी और बाद की सीढ़ियों बारे में भी ऐसा ही था। जहाँ सुनने की सामर्थ्य ही हो वहाँ शब्द का अभ्यास भी कोई कैसे करता। उन्होंने केवल प्राणायाम का ही अभ्यास किया। यदि उन्हें क लाभ हुआ तो वह प्राण योग के अभ्यास के द्वारा ही हुआ

ह था कि उन्हें चमत्कारिक अथवा आश्चर्यजनक कुछ क तथा मानसिक शक्तियां प्राप्त हुईं। लक्ष्य की प्राप्ति । तो भी शिक्षा पद्धति तो थी मगर थोड़े से गिने क्तिओं ने ही अध्यात्म के लिये प्रयत्न किया और किया।

में सतपुरुष राधास्वामी दयाल संत के रूप में ुए। उन्होंने पिछले योगियों की भूलों को बताया, थूल जगत में अभ्यास पद्धति की निर्थकता को सिद्ध किया और योग साधन में प्राणायाम के अभ्यास को व्यर्थ तथा अनावश्यक घोषित करते हुये समाप्त किया। उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा—

"यह विवेक और बुद्धि का युग है। संसार अधिक बुद्धिमान हो गया है और ज्ञानेन्द्रियां दिन प्रतिदिन सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जारही हैं इसलिये यह अच्छा है कि सचाई की खोज तुम अपने मन में करो। यह मन ही भौतिक और आध्यात्मिक मंडलों को जोड़ता है।

उसके अंतर पट पर जड़ और चेतन्य दोनों का प्रतिबिम्ब (छाया) पड़ता है। यह तीन क्रियायें अर्थात् परम पवित्र नाम का सुमिरन, परम पवित्र रूप का ध्यान और परम पवित्र शब्द का श्रवण तुम्हें चौथे पद की प्राप्ति में सहायता देते हुये नीचे से ऊपर को लेजावेंगी।"

हम यहां सत्संग के रूप में 'वेखरी' शब्द से शिक्षा प्रारम्भ करते हैं और मानसिक रूप से अपने चित्त को 'मध्यमा' में लेजाते हैं और तब धीरे धीरे पश्यन्ति की ओर बढ़ते हैं जो उसकी कारण अवस्था है। ये क्रियायें मन में तथा मानसिक मंडल में की जाती हैं। जब यह तीनों श्रेणियाँ पूरी हो जाती हैं तो समय पर चतुर्थ तदनन्तर पंचम

आदि श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और अन्त में परम तक पहुँचते हैं।

यह सुगम है, सुखकर है, आनन्ददायक है। करने के लिये कोई प्रयत्न आवश्यक नहीं है। स्त्री तथ युवा तथा वृद्ध और सब ही को इसका अभ्यास करने अधिकार है और यह स्वाभाविक भी है।

इस प्रबन्ध में 'वेखरी' शब्द स्थूल (भौतिक) अवस्था है। मध्यमा बीच में है अर्थात् मानसिक या सूक्ष्म अवस्था में है जबकि पश्यन्ति कारण अथवा रचना के सबसे ऊपर की अवस्था में है। फिर भी यह सब तीनों अवस्थायें त्रिगुणात्मक प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था के अनुसार ही है।

इसके पश्चात् चौथी अवस्था "परा" की आती है। वह परम शब्द का वास स्थान है और जिसे सन्तों का विश्राम स्थल कहा गया है। इसलिये, अब, यदि तुम में से किसी को लक्ष्य के प्राप्त करने की समझ है तो यह आवश्यक है कि वह उठे, जागे और एक स्थिति से दूसरी स्थिति के पथ पर बढ़े और जब तक परम लक्ष्य तक न पहुँच जावे विश्राम न ले।

मैंने यह सब बातें यथा संभव सुगम रूप से समझाई हैं और न तो किसी महत्वपूर्ण बात को छोड़ा है और न कोई ऐसी जानकार भूल की है जो किसी को गुमराह करदे। यह सब बातें इस शिक्षा से सम्बन्धित लोगों की भलाई के लिये सच्चे हृदय से प्रस्तुत की जारही हैं।

प्रसंग (१७)

पूर्व काल में "प्राण" का अभ्यास परम आवश्यक था। अब यद्यपि इसे निरर्थक माना गया है तथापि प्राण का स्थान प्रकृति में है। प्राण श्वास प्रश्वास (सांस में आने जाने

वाली) वायु नहीं है किन्तु यह विशेष शक्ति या बल है जो स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण रचनाओं को संभाले हुए है। प्राण सब में व्यापक है। प्राण क्या है ? इसकी व्याख्या वास्तव में कठिन है। संस्कृत कोषों में उसके भिन्न भिन्न अर्थ हैं। उसे ब्रह्म भी कहा गया है। जीवन, जीवन शक्ति, शक्ति इन सबके अर्थ प्राण के हैं। पृथ्वी पर प्राप्त समस्त शक्ति, तथा समस्त भौतिक जीवन का उद्गम सूर्य है जो प्राण का स्रोत (सोता) है। दृश्य तथा अदृश्य विकिरण (radiation) और ताप तथा शक्ति की लहरें सब उसमें से निकलती हैं। जैसा बाहर है वैसा वह भीतर मनुष्य के शारीरिक के ढाँचे में है। आंतरिक सूर्य तथा बाह्य सूर्य दोनों हर तरह से परस्पर मिलते जुलते हैं। जब सूर्य चमकता है वह कम्पायमान होता है और यह कंप प्रकृति में ज्योति तथा समस्त अन्य हलचलें पैदा करती है। प्राणी जगत, वनस्पति जगत तथा प्रकृति की दूसरी रचनाओं को जीवन प्रदान करता है। वह कम्प और विकिरण (रेडीयेशन) पाँच प्रकार के हैं। संस्कृत पुस्तकों में सामान्यतः और योग पुस्तकों में विशेषतः पांच प्रकार के प्राण गिनाये गये हैं। वे यह हैं—

(१) प्राण (२) अपान (३) व्यान (४) उदान (५) समान।

१—'प्राण' इन्द्रियों को अपने अपने काम में प्रवृत होने की शक्ति देता है। उसका कार्य प्राणी मात्र को श्वास क्रिया द्वारा जीवित रखना है। प्राण का वास हृदय में है।'

२—'अपान' मल मूत्र त्यागने के कार्यों को सहायता देती और नियंत्रित करती हुई नीचे की ओर जाती है। इसका स्थान गुदा में है।

३—'व्यान' सब जगह प्रवाहित हो रही है। यह संपूर्ण शरीर में व्यापक है। यह उसके सारे विभिन्न भागों को नियंत्रित करती, नियमित करती और जीवित रखती है और सारे पिंड

को एक सूत्र में बाँधे रखती है। शरीर में 'व्यान' का स्थान हर जगह है।

४—'उदान' वह है जो ऊपर चढ़ती है उसका स्थान कंठ में है।

५—'समान' नाभि स्थान की शारीरिक ताप (गर्मी) को तीव्र करती है। पाचन क्रिया को नियमित करती है। उसका स्थान नाभि में है।

प्राण योग का उद्देश्य श्वास को उत्तेजित करना था—इष्टदेव के गुणों तथा नामों को सुमिरन करते हुये नासिका द्वारा विशेष रीति से श्वास लेना। राधास्वामी मत के अनुसार प्राणों को अपने कार्य स्वाभाविक रीति से करने दो और योग की साधना के लिये न तो किसी प्रकार की उत्तेजना और न किसी प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता है, क्योंकि प्रकृति में समस्त क्रियायें तथा प्रतिक्रियायें साथ साथ चलती हैं। इसलिये हर उत्तेजित कार्य की प्रति क्रिया (reaction) होती है। अतएव हर कार्य यथा सम्भव स्वाभाविक ढंग से किया जाना चाहिये।

प्राणायाम अथवा प्राण योग सबसे खतरनाक भी है। यदि कोई दक्ष पुरुष (कुशल गुरु) साधक की सहायता नहीं करता है तो बहुधा मानसिक उन्माद हो जाता है। मनुष्य रोगी हो जाता है और बहुधा रोग असाध्य हो जाता है। इसी कारण से प्राणायाम का निषेध किया गया है और ऐसा किया जाना ठीक भी है।

समस्त प्राणों (जीवन शक्तियों) को प्रकृति द्वारा उन्हें उनका निर्दिष्ट कार्य करने दो। योग के लिये केवल ध्यान आवश्यक है और कुछ नहीं। भौतिक पदार्थों की ओर से ध्यान का हटना और अध्यात्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ध्यान है।

केवल यही करो और प्राण तथा प्राणायाम के सभी विचारों को छोड़ दो।

जीवन के दैनिक कार्यों में, यदि तुम उचित रूप से एकाग्रचित हो तो प्राण विघ्न नहीं डालता। उदाहरणार्थ पढ़ने अथवा लिखने में प्राण का उचित नियन्त्रण होता है। वह संयम में रहता है। न तो वह तीव्र होता है और न मंद। अपने मन को नियत केन्द्रों में एकाग्र करने के लिये यही क्रिया या ढंग अपनाना चाहिये।

प्रसंग (१८)

इस भूमिका के १७ वें प्रसंग में हमने जान बूझ कर श्वास क्रिया के विभिन्न कार्यों की जीवन दायनी प्राण शक्ति का विस्तार से वर्णन किया है जिससे कि पाठक स्वयं यह निर्णय कर सकें कि कौन वस्तु क्या है और वह किस प्रकार अपना विशेष कार्य करती है तथापि प्राण को वायु के रूप में माना जाता। है वह न तो यह है और न उसका यह कार्य है किन्तु वास्तव में वह कुछ ऐसी वस्तु है जिसकी अपनी स्वतन्त्र शक्ति है और यह चेतनता से मिलता जुलता और भौतिक (जड़) पदार्थ में जीवन का संचार करता है। वह सब में व्याप्त है, सब में रमा हुआ है, सब पर नियन्त्रण रखता है फिर भी उसको यह ज्ञान नहीं है कि वह क्या करता है। उसके सब कार्य उस परमात्मा से शासित हैं जिसमें शासन का अहंकार नहीं है और बुद्धि की गम्य नहीं है किन्तु यह है ऐसा ही।

वह नीचे जाता है। वह ऊपर उठता है। वह खान पान, पचन-पाचन आदि में लगने (स्तैमाल होने) वाली जीवन शक्ति की अग्नि को उत्तेजित करता है। यह आवश्यक को ग्रहण कर लेता है और अनावश्यक को निकाल देता है। यह सारे शरीर

में फैला हुआ है। कोई भी स्थान इससे शून्य नहीं है। वह प्रत्येक जगह मौजूद है। सब उससे परिपूर्ण हैं। वे व्यक्ति वास्तव में सुखी हैं जो इस जीवन शक्ति के लाभ को समझते हैं। वह सर्व शक्तिमान है क्योंकि वह शक्ति के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। तब भी वह एक शक्ति है जिसको अन्य शक्ति की आवश्यकता है। उस प्राण शक्ति को न तो निरोध करना चाहिये और न उत्तेजित करना चाहिये। उसे रोकने का प्रयत्न करोगे तो शारीरिक अंग रोगी हो जायेंगे। उसके रोकने का प्रयत्न करने से और उसकी असमानता से शरीर में व्यक्तिक्रम पैदा होता है, जिससे कोई अंग भर जाते हैं और कोई खाली हो जाते हैं। जैसा प्रकृति काम करती है वैसा ही इसे करने दो, क्योंकि वह स्वयं प्रकृति है। इस 'आनन्द योग' की यही खूबी है कि वह साधक को शाँत और स्थिर रहने का आदेश देता है क्योंकि वह यहीं जगत है जहाँ परम सुख या आनन्द की झलक ही नहीं किन्तु प्राप्ति भी होती है। तुम अपने कार्य को, प्रयत्न और परिश्रम को स्वाभाविक ढंग से करो। तब तुम्हारा मन सरलता से एकाग्र हो सकेगा और जैसा बनना चाहता है बन जायगा।

अभ्यास उस स्थान से आरम्भ करो जहाँ शब्द शक्ति ने बाहरी रूप धारण किया है अर्थात बेखरी शब्द हो गया है। उदान अर्थात ऊपर उठाने वाली प्राणशक्ति द्वारा बिना किसी कठिनाई के मन को ऊपर के मंडल में ले जाने दो जहाँ शब्द मध्य अवस्था में है अर्थात जहाँ शब्द थोड़ीसी अशब्द अवस्था से मिला हुआ है। जब यह स्थान प्राप्त हो जावे तब आगे बढ़ो। उदान (प्राण शक्ति) अधिक ऊपर उठाने में सहायक होगी। तुम तब अन्तर में शब्द की अशब्द गति को पहिचानोगे जो पश्यन्ति कहलाती है। बाह्य शब्द में बाह्य प्राकट्य है। आँतरिक शब्द में आंतरिक प्राकट्य है। अन्तर की अंतस्थता

में दोनों का अनुभव होता है। जब यह अनुभव होगा त चौथा पद अर्थात् अशब्द गति अनुभव में आयेगी और अप आप फूट निकलेगी। वह परा अथवा इन तीनों से परे की स्थिति होगी। यह बात राधा स्वामी मत में इस तरह कही जाती है। ओठ. जीभ, मुख, दांत, तालु आदि के द्वारा जो कुछ बोला जाता है वह शब्द की वर्णात्मक अवस्था कही जाती है और जहाँ प्राकृतिक स्वर स्वच्छन्दता से होठ आदि की सहायता बिना पूर्ण रूपेण विहार करता है, वह पश्यन्ति अवस्था कहलाती है। वर्णात्मक अवस्था से धुनात्मक अवस्था में जाना है। इसके ऊपर परा शब्द है जो श्रवणेन्द्रिय (कान) के बिना सुना जाता है इसको नाम प्राप्ति कहते हैं अर्थात् जो न बोला जाय और न प्रकट किया जाय। यह क्रिया स्वाभाविक है। परा यह कार्य करती है और वास्तविक रूप में आत्मिक उन्नति होती है। बहुत ही थोड़े व्यक्ति हैं जो इसका अभिप्राय समझते हैं जिसका कि वर्णन यहाँ किया जा रहा है। किन्तु यह लक्ष्य है, यह आदर्श है, यह अमरता के सुनहरी द्वार को खोलने की कुंजी है और इस प्रकार साधक जीवन मरण के चक्र से तथा उसके परिणाम स्वरूप दुख सुखों से जो उसे घेरे रहते हैं, मुक्त हो जाता है।

बाह्य शब्द मंडल से हम आँतरिक शब्द मंडल में आते हैं। आँतरिक शब्द मंडल से हम अशब्द गति के शब्द मंडल में ऊपर चढ़ते हैं और उस परम स्वर के स्वर में एक सुर हो जाते हैं। जब ऐसी अवस्था आजाती है तो सर्वत्र शांति और विश्राम होता है। वहाँ किसी प्रकार की हल चल नहीं है। वहाँ किसी पकार की व्याकुलता नहीं है। वहां हलचलें अर्थ हीन हो जाती हैं। यह चौथी अवस्था अथवा स्थिर अवस्था स्वर्ग है विश्राम स्थान है जिसका न तो नाम है न रूप है। वहां

पंच तत्वों के गुण ठोसपन, तरलपन, आकारपन, गति और शब्द या आकाश नहीं है। वह क्या है? यह केवल श्रद्धा और विश्वास का ही विषय नहीं है किन्तु वह आँतरिक अनुभव का विषय है, जहाँ चार प्रकार के अन्तःकरण अहंकार, बुद्धि, मन तथा चित्त का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। क्योंकि ये नीचे जाने वाली प्रवृतियों की नीचे उतरने वाली धारें हैं।

प्रसंग (१६)

जब तक निराकार साकार में नहीं उतरता तब तक बहुत कम व्यक्ति इसे समझने में समर्थ होते हैं। अतः बुद्धिमान व्यक्ति सदैव निराकार को साकार बनाते हैं। आत्मिक सत्ता की स्थूल प्रतिमा बना लो और अज्ञानी जनता उसको सिर झुका देगी। ज्ञान को "क ख ग" अक्षर के रूप में अथवा दो तथा तीन स्वरों के संयुक्त अक्षरों में, पद तथा वाक्यों में बदल डालो तो जनता पुस्तकों के पीछे दौड़ेगी और उन्हें पढ़ेगी।

अतः नीचे मैं एक कहानी सुनाता हूं जो सत्य को रूपक द्वारा समझाने में सहायक होगी। उन्हें पढ़ो और उनसे तुम लाभ उठाओ किन्तु सावधानी से पढ़ो और उसमें निहित (छुपे हुये) अर्थ को न खो बैठो।

एक जो अदेह था वह भौतिक ढांचे के बन्धन में देहधारी दिखाई देता है। इसे कौन विचार में लाता है? वृक्ष उसके फल से जाना जाता है वैसे ही सत्ता का अनुमान उसके कार्यों से होता है। यह कहा जाता है कि आरम्भ में अन्धकार तथा प्रकाश मिली जुली, घनिष्टता में अथवा अभेदनीय और अविभाजनीय रूप में थे। वह आपस में एक ही रहे थे। इस एकता के गर्भ में स्वाभाविक हलचल हुई और अंधकार जो ज्योति

को घेरे हुए था पृथक हो गया। सबसे पहले एक भाप के रूप का पदार्थ धुएँ के रूप में निकला और उसके पीछे प्रकाश निकला। तुमने देखा होगा कि जब तेल से भीगी हुई बत्ती दियासलाई से सुलगाई जाती है तो पहले धुआं उठता है जो अंधकारमय तथा काले गोलों के रूप में तुम्हारे मकान की छत में लग जाता है। जब धुआं उठ चुकता है और वहाँ बैठ जाता है तब उसके क्रम में ज्योति का प्रकाश उठता है, उसकी ओर आकर्षित होता है और उसी समय अपने को चारों ओर फैला देता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि प्रकाश अंधकार के बिना रह नहीं सका। उसका स्वाभाविक सम्बन्ध प्रथकता नहीं चाहता। अब वे आत्माऐं जो स्थूल प्रकृति अथवा धुएँ के रंग के पदार्थ से देह धारण करती हैं असुर कहलाती है और वे आत्मायें जो ज्योति की देह धारण करती है वे सुर या देवता कहलाती हैं। धुऐं के रंग वाले व्यक्तियों की समष्टि अथवा समुदाय का नाम काल या शैतान है अथवा जिस नाम से तुम चाहो उसे पुकारो। केवल भाव को ध्यान में रक्खो। देवताओं की समष्टि अथवा समुदाय का नाम देव है जो बहुत से सम्प्रदायों का परम देव कहा जाता है। वे दोनों तत्वभूत सत्ताऐं एक दूसरे से प्रभुता के लिये लड़ती तथा उच्चता के हेतु झगड़ती है। नीचे की रचना इन दो प्राकृतिक पहलवानों-सुर असुर अथवा आत्मा व भौतिक प्रकृति की कुश्ती का मैदान है और ये दोनों तब तक विश्राम नहीं लेते जब तक एक दूसरे पर विजय प्राप्त नहीं कर लेते। रचना के कौतुक इस प्रसिद्ध झगड़े के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जहाँ भी तुम जाओगे, वहाँ इन झगड़े विरोध, विवाद तथा प्रतिद्वन्दी वाले प्रवृतियों वाले तत्व (लोग) मिलेंगे। हर पग पर जब आसुरी प्रकृति वाले तत्व विजयी होते

है वहाँ अन्धकार होता है और जहाँ दैवी प्रकृति वाले विजयी होते हैं वहाँ प्रकाश होता है। चाहे कितना ही इनकी ओर ध्यान न दो परन्तु ध्यान न देना भी केवल अज्ञानता है। सृष्टि के पदार्थ जो सत्ता में है जब सम्मुख आते हैं तो विवेक जाता रहता है और उसका परिणाम दुख होता है। यह क्रिया हर युग में रहती है। सृष्टि के झगड़ने वाले देव दानव अपने सत्वों (हक्कू) के लिये इस झगड़े में कभी भी नहीं चूकते। क्या सच्चे ईश्वर का यही राज्य है? विचारवान पुरुष अपने से तथा दूसरे से यह प्रश्न करेगा और इस प्रश्न का उत्तर सदैव 'नहीं' में होगा। क्या इस उत्तर से प्रश्नकर्त्ता के मन में संदेह नहीं होगा? या तो कोई ईश्वर है नहीं और यदि कोई है तो ऐसा अनुमान किया जायगा कि उसकी शैतान से सदा से शत्रुता है और उसका स्वभाव बदला लेने का है जो कि पापी अपराधियों पर जन्म जन्मान्तर से क्रोध की दृष्टि से देखता रहता है। यह वह ईश्वर है जो चारों ओर श्रापों के ढेर लगाता है, विनाश करता है तथा भय उत्पन्न करता है तो भी लोग उसको सिर झुकाते हैं और मालिक की प्रार्थना को भूल जाते हैं।

अखिल पिता परमेश्वर,
नाम हो तेरा पावन।
इस पृथ्वी पर उतर पड़े,
तेरा स्वर्गिक शासन॥

इससे प्रकट है कि देवताओं का समष्टि देव अथवा सारे प्राणियों का समष्टि रूप उस एक परम पिता से भिन्न है। उसे इस दिव्य देव अथवा असुर से भिन्न होना चाहिये। जीवन के इस मंडल में दोनों ही शक्तिशाली प्रतीत होते हैं। क्या तुम में से किसी ने इसका अनुभव किया है और किसी

संतोषजनक परिणाम पर पहुंचे हो ? मुझे इसमें सन्देह है।

देहधारी जीव स्थूल बाहरी दुनिया में इस संग्राम दुखों का अनुभव करता है और इसी संसार में अर्थात मानसिक संसार के अन्दर शान्ति की खोज करने का प्रयत्न करता है। वहां भी उसे विरोधी द्वन्द मिलते हैं जो परस्पर युद्ध करते हैं; क्योंकि मानसिक जगत स्थूल जगत का सूक्ष्म रूप है जैसे कि जाग्रत अवस्था का सूक्ष्म रूप स्वप्न है। तत्पश्चात् वह क्षणिक विश्राम पाने के लिये कारण लोक की शरण में जाता है जो सुषुप्ति अवस्था के रूप में है। उसे पुनः प्रति दिन के अभ्यास के अनुसार नीचे उतरना तथा बारम्बार दुःखद अनुभवों का सामना करने के लिये विवश होना पड़ता है। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल एक समान हैं क्योंकि प्रत्येक देहधारी जीवात्मा के भीतर या बाहर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो उसकी सहायता करे। वह अपने को खो बैठता है और नरक का भागी बनता है। ये बात बिल्कुल सत्य और अकाट्य है।

यहां आनन्द योग की शिक्षा आती है जो उस रहस्य का हल करने में सहायक होती है और उस गुत्थी को सुलझाती है। इसमें यह बताया जाता है कि उस परम पिता परमात्मा के राज्य को किसी दूसरी जगह ढूंढो जो जगह भीतर और बाहर से भिन्न है और कार्य कारण से भी भिन्न है।

विरोधी देवताओं ने अपने अन्तर में सोचा-"हम उद्गीत (दैवी गीत) अथवा प्रणव (केवल प्राण से गाये जाने वाला मधुर स्वर) गावें।" उन्होंने बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियों की शरण ली और उनसे उनके लिये गीत गाने की बिनती की।

जिह्वा ने उसे गाया परन्तु वह तो अपनी प्रशंसा के गीत गाने तथा दूसरों की बुराई करने के लिये तत्पर रहती है।

आँख, कान, मन, बुद्धि आदि ने भी ऐसा ही किया। इन में से कोई भी निस्वार्थ नहीं है। अतएव असुरों ने सुरों को उनकी दुर्बलता के कारण परास्त कर दिया और सुरों को हार खानी पड़ी। अंधकार ने ज्योति को पराजित किया। अज्ञान ने विजय पाई। सुरों की जीत न हो सकी। जहाँ स्वार्थपरता होती है वहाँ वास्तव में देवत्व नहीं होता। कानों का स्वभाव है कि वे अपने स्वार्थी उद्देश्यों को ध्यान से सुनते हैं और दूसरों के हितों की निन्दा करते हैं। आंखों को अपना भला तथा दूसरों का बुरा देखने की टेव है। मन का स्वभाव अपना भला तथा दूसरों का बुरा सोचने का है। इसलिये इन सब ही को खदेड़ दिया गया और बुरी तरह हार हुई। उनके भाग्य में पीछे ही पीछे हटना बदा था। यहां तक कि अन्त में उन्हें प्राण की शरण लेनी पड़ी और उससे उनके लिये दिव्य संगीत गाने के लिये प्रार्थना की। जब असुर उसे कुचलने पहुँचे तो असुरों के वैसे ही टुकड़े टुकड़े हो गये जैसे मिट्टी का ढेला चट्टान से टकराकर टूक टूक होकर धरती पर गिर पड़ता है। तब असुर निराश हो गये और सुरों ने अन्त में विजय प्राप्त की, क्योंकि प्राण में कोई स्वार्थ परता नहीं है। वह 'मैं', 'तू', 'वह' आदि का विचार नहीं करता। उदाहरणार्थ यदि कोई चोर किसी व्यक्ति के घर में घुसता है तो उसकी उपस्थिति बतलाने के लिये जिभ्या के पास वाणी होती है, कान उसके द्वारा किये गये कोलाहल को सुनते हैं, मन उसको पकड़ने का विचार करता है इत्यादि, किन्तु प्राणों से ऐसे किसी कार्य की आशा नहीं की जा सकती। चोर आये अथवा चला जाये, वे चोर की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति की कोई सूचना नहीं देते। यही कारण है कि देवता विजयी हुये; क्योंकि वह प्राण की शरण में चले गये और असुरों को उसके

सामने घुटने टेकने पड़े।

इस प्रकार कहानी समाप्त हुई और यह तुम्हारे लिये छोड़ दिया गया है कि तुम उस रूपक के बारे में विचार करो।

आनन्द योग जीवात्मा के उत्थान के लिये इस स्वर्गीय संगीत की आज्ञा देता है ताकि जीवात्मा उसमें रमण करे और उसके साथ एक स्वर और एकता को प्राप्त होवे। क्या तुम नियमित रूप से इस दिव्य गीत का गान करने को तत्पर हो तथा उस प्रभु के राज्य में पहुँचने के इच्छुक हो। (प्रश्न) ऐसा परम शासक जो अपनी हुकूमत मनवाना नहीं चाहता कौन है? (उत्तर) वह इस दिव्य गीत गाने वालों का लक्ष्य तथा आदर्श है। यदि तुम इच्छुक हो तो आओ और सीखो। शांति तथा सद्भावना तुम्हारे भाग्य में आये!

प्रसंग (२०)

देवदूत के समान भक्त, अपने पर फैलाता हुआ, मधुर दिव्य संगीत से अति हर्षित होकर अबाबील (लवा) की भांति ऊपर की ओर उड़ा। त्रिलोकी की समस्त रचनाऐं उसकी दृष्टि से ओझल होगई। वह ऊँचा ही ऊँचा बढ़ता चला गया और उड़ान में उस आकाश पंथी के चारों ओर दिव्य मधुर संगीत फूट पड़ा। त्रिलोकी स्वर्ग की अपेक्षा ऐसा नर्क होगई जिसमें त्रास ही त्रास है दैवी कृपा नहीं है। वह ऊपर ही ऊपर उड़ता रहा और अपने को चौथे लोक में जहाँ दैवी कृपा है पहुँचा दिया। यह दैवी कृपा उसका जीवन ही होगई।

दिव्य हो गया। देखो कितनी सुहावनी तथा सुन्दर, आकर्षक तथा मनोहर वह दिव्य भूमि है! संसार की कोई वस्तु उसकी समता नहीं कर सकती। वह अपूर्व है। वहाँ पर दैवी अमृत की वर्षा हुई जिससे वह

स्वयं दिव्य हो गया। वहां चारों ओर परमानन्द छाया हुआ था। वह स्वयं आनन्द स्वरूप हो गया अर्थात एक रूप हो गया। द्वैत समाप्त हो गया। वह तेज से चमकने लगा और सत पुरुष परमदयाल राधा स्वामी के कमल चरणों में झुका। राधा का स्वामी से योग होगया। सत का सत्ता से मिलाप हो गया, क्योंकि राधा सत्ता है और स्वामी सत है। दोनों को एक रूप देखा। वह उनके मिलाप में खोगया। एक और दो का विचार सदा के लिये लुप्त हो गया। एक में तीन तथा तीन में एक के विषय में हम ने जो कुछ कहा वह असत से ही सम्बन्धित था। वह सत हो गया।

सत ने सत्ता से मिलकर उसे भी सत बना दिया। आत्म सत्ता की छुद्र बूंद फैलकर समुद्र बन गई। आनन्द योग का उद्देश्य सिद्ध तथा प्राप्ति दोनों का भाव निरर्थक हो गया। नमक की खान में जो कुछ डूबा वह नमक की भाँति खारा हो गया। आत्मा आत्मा से बंधन हीन तथा देह हीन होकर मिल गई। कोई आवरण उसे ढकने वाला नहीं रहा। यहाँ पर देह से पूर्ण छुटकारा हो गया। सबके लिये दया मौजूद थी। सब के लिये शान्ति थी। जो आदर्श था वह पूर्णतः सिद्ध होगया। एक जो पिंजड़े में बंद था मुक्त होगया। उस लाभप्रद मुक्ति में परमानन्द का मधुर सुर सुनाई दिया। यह स्वर निरंतर गूंजता रहा।

वहां कृपा, शाँति और अनिर्वचनीय आनन्द के सिवाय कुछ नहीं था। उस स्वर में जो काव्य (कविता) है वह वर्णन नहीं किया जा सकता। वह स्वर अनन्त काल तक उस रहेगा और वह स्वयं भी अमर रहेगा। यही उद् वही पूर्णतः प्राप्त हो गया। फिर गा उठा—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पदुच्य

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा व शिष्यते ॥

'वह' पूर्ण है। 'यह' भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकला है। पूर्ण से पूर्ण घटाने पर पूर्ण ही शेष रहता है।

प्रसंग (२१)

आनन्द द्वारा योग। अहा! वह क्या वस्तु है? क्या वह मृत्यु है अथवा अमरत्व (अमरपना)? अज्ञानी पुरुष इसको अपने आपे को मिटा देना समझते हैं, किन्तु ऐसा समझना भ्रम है। केवल मूर्ख ही ऐसा विश्वास करते हैं। एक जीवित व्यक्ति मृत्यु के बारे में कैसे सोच सकता था? आह तुम आस्तित्व में होते हुये यह भाव रखते हो कि हम मृत्यु के पंजों में जकड़े हुये हैं। यदि तुम सोच सकते हो तो उस मृत्यु के बारे में सोचो। इसके विषय में सोचते समय सोचने वाली सत्ता मृत्यु के चिन्तन से अलग रहती है। तुम अपने को मृत्यु से इस तरह अलग पाओगे जिस प्रकार एक ध्रुव दूसरे ध्रुव से दूर है। कौन मरता है? कोई नहीं। यह तो निर्वाण है। यह अवस्था शान्ति की है अर्थात शान्ति भंग करने वाली सब वस्तु हट गई। क्या हट गया? काला धुआं जो आंखों को धुंधला रहा था सदैव के लिये चला गया। अब आगे दिखाई नहीं देगा। एक को तीन या दो दिखाने वाली अथवा दूर की वस्तुओं को न दिखाने वाली दृष्टि उसका संग छोड़ देती है। अब दृष्टि सर्वथा पूर्ण होती है। उसकी तीनों अवस्थाओं, जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति में कार्य्य और कारण के रूप में जगत का दृश्यमान होना समाप्त हो जाता है और उसको अब कोई भय नहीं रहता।

अवरोहण (उतार) अब समाप्त होगया। आरोहण चढ़ाव) ने उसका स्थान ले लिया और यह चौथे पद की ढ़ाई थी। एक साथ तीनों शरीरों (कारण, सूक्ष्म और स्थूल)

में रहते हुये यह चढ़ाई की गई। वह जो कुछ है वही है। उतार चढ़ाव दोनों ही उसके लिये महत्व हीन हो गये। वह जीवित रहता है और श्वास लेता है। उसका जीवित रहना तथा श्वास लेना जीवन में है तथा श्वास में हैं परन्तु आनन्द के साधन से उसने योग की प्राप्ति की और योग द्वारा उसने अमरता प्राप्त की। उसके लिये अब मृत्यु लोक नहीं रहा। जीवन धारियों के बीच में पृथ्वी पर रहते हुए भी वह इस लय में अपनी नम्र प्रार्थना करता है:—

"करूं बीनती दोउ कर जोरी।
अरज सुनो राधास्वामी मोरी ॥१॥
सत्त पुरुष तुम सत् गुर दाता।
सब जीवन के पितु और माता ॥२॥
दया धार अपना कर लीजे।
काल जाल से न्यारा कीजे ॥३॥
सतयुग त्रेता द्वापर बीता।
का हू न जानी शब्द की रीता ॥४॥
कलयुग में स्वामी दया विचारी।
परगट करके शब्द पुकारी ॥५॥
जीव काज स्वामी जग में आये।
भव सागर से पार लगाये ॥६॥
तीन छोड़ चौथा पद दीन्हा।
सत्त नाम सत् गुरु गत चीन्हा ॥७॥
जगमग जोत होत उजियारा।
गगन सोत पर चंद्र निहारा ॥८॥
सेत सिंधासन छत्र विराजे।
अनहद शब्द नौब धुन गाजे ॥९॥
छर अछर निः अछर पारा।
बिनती करे जहं दास तुम्हारा ॥१०॥

लोक अलोक पाऊँ सुख धामा।
चरन सरन दीजै बिसरामा ॥११॥

—सार बचन राधास्वामी

यह प्रार्थना अब उसकी ओर से इतनी नहीं है परन्तु दूसरों के हितार्थ है जिनको वह यात्री अपनी तीर्थ यात्रा से लौटने पर दया दृष्टि से देखता है और उन्हें तीन तथा त्रिलोकी के बंधनों से मुक्त करना चाहता है।

❀ इति भूमिका ❀

आनन्द योग प्रकाश

प्रथम भाग-अनेकता

पहिली झांकी

सृष्टि व्यवस्था में तीन मंडल

सृष्टि की व्यवस्था तीन प्रकार की है। इसके तीन मंडलों का वर्णन सापेक्ष्य दृष्टि से किया जाता है। बिना अपेक्षा के रचना अथवा विनाश संभव नहीं हो सकता।

पहली हालत वह है जहाँ शक्ति घनीभूत होती है। शक्ति का तात्पर्य जीवन अथवा चेतन्य शक्ति से है और उस शक्ति का उस मंडल में घनीभूत होना है।

जब कोई व्यक्ति 'एक' की धारणा करता है तो वह 'दो' की धारणा को टाल नहीं सकता। एक ही दो को उत्पन्न करता है। जब तक दो न हों तब तक एक या दो की न तो धारणा हो सकती है और न उनका वर्णन ही किया जा सकता है। इसीलिये दो मंडल हैं। पहले को तुम सत मान सकते हो और दूसरे को छायावत अथवा उसका प्रतिविम्ब।

पहले मंडल में शक्ति की सघनता है जब कि दूसरे में उसकी न्यूनता है। यह मंडल भी सर्वथा शक्ति से रहित नहीं है क्योंकि यह असंभव है। केवल भेद यह है कि दूसरे मंडल में उसकी बहुत कम मात्रा है।

एक की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति आवश्यक होती है। इस दृष्टि कोण से तीसरे के होने की भी आवश्यकता हो जाती है। यह सृष्टि की व्यवस्था में तीसरा मंडल है। इसमें दोनों के गुण रहते हैं और इस तीसरे मंडल में ऊपर कहे गये दोनों तत्वों का एक प्रकार का मिश्रण है।

संस्कृत परिभाषा में पहले मंडल को 'सत', दूसरे को 'तम' और तीसरे को अथवा दोनों के बीच वाली कड़ी को 'रज' कहते हैं।

दूसरी झाँकी

तीन में एक तथा एक में तीन अथवा एकता में अनेकता और अनेकता में एकता

प्रकृति में किसी भी पदार्थ पर सरसरी दृष्टि डालो। तुम देखोगे कि उसके तीन भाग हैं जो सब जुड़े हुए हैं।

अपनी उंगली ही को लो। तुम देखोगे कि उसके तीन भाग हैं। उसी प्रकार तुम्हारी हथेली भी तीन जोड़ वाली है। अपने हाथ का विचार करो। वह भी तीन भागों में बटा हुआ है। उसका पहला भाग हथेली है, दूसरा कलाई और तीसरा भुजा। तुम्हारी टांग भी तीन जोड़ वाली हैं—पैर, पिंडली और जंघा। यही तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर के बारे में कहा जा सकता है जैसे सिर, धड़ और टाँगें इत्यादि इत्यादि।

यदि तुम इस विषय पर जरा और सोचो तो तुम देखोगे कि तुम्हारी देह का प्रत्येक अंग चाहे वे आंख, जिह्वा, कान या कोई भी और हो जिसका तुम नाम लो, तीन जोड़ वाला है। इस नियम का कोई अपवाद (विरोध) नहीं है। इसी प्रकार स्वयं विश्व तीन लोक (विभाग) वाला है—द्यौ, पृथ्वी

अंतरिक्ष। यही तीन में एक तथा एक में तीन है। न तो एक को तीन से पृथक किया जा सकता है और न तीन को एक से।

तीसरी झाँकी

जीवन, ज्ञान और प्रेम

जहाँ जीवन है वहां ज्ञान और प्रेम भी है। जीवन ज्ञान और प्रेम से ओत प्रोत है। प्रेम और ज्ञान के बिना जीवन निरर्थक है। तुम जीवन को ज्ञान तथा प्रेम से अलग नहीं कर सकते।

ज्ञान को जीवन अथवा प्रेम से अलग नहीं किया जा सकता। ज्ञान प्रेम और जीवन को धारण किये हुये है। आप जीवन तथा प्रेम को ज्ञान से अलग नहीं कर सकते। ऐसा विच्छेद असम्भव है। जीवन तथा प्रेम के बिना ज्ञान फिर एक मिथ्या और गोल मोल शब्द रह जाता है।

जीवन और ज्ञान का दूसरा रूप प्रेम है। जहाँ जीवन और ज्ञान नहीं है वहाँ प्रेम नहीं रह सकता। जीवन और ज्ञान के बिना प्रेम समझ में नहीं आ सकता।

जीवन, प्रेम और ज्ञान तीनों साथ साथ गुथे हुये ही नहीं हैं किन्तु वास्तव में वे एक तथा अभिन्न वस्तु हैं। सार वस्तु एक ही है। केवल प्रगट होने का ढंग तीन रूप में है।

तीन में एक और एक में तीन संसार की कई धार्मिक जातियों के आदर्श सिद्धान्त रहे हैं परन्तु सबकी समझ से बाहर हैं।

संस्कृत में एक संयुक्त शब्द है जो इन तीन को प्रगट करता है। वह शब्द है सच्चिदानन्द (सत-चित-आनन्द)।

सत् जीवन है, चित ज्ञान है और आनन्द प्रेम है। सच्चिदानन्द ही जीवन, ज्ञान और प्रेम है। इससे प्रकट है कि एक में तीन तथा तीन में एक का विचार वेदों से लिया गया था।

सत् को चित और आनन्द से अलग नहीं किया जा सकता है; चित को सत् और आनन्द से अलग नहीं किया जा सकता और आनन्द इसी प्रकार सत और चित से अलग नहीं किया जा सकता।

चौथी झाँकी

तीन सत्ताओं का वर्णन

जैसे कि एक ही सत्ता तीन रूपों में प्रगट होती है वैसे ही महत्तत्व (देव) के पहलुओं का वर्णन तीन मंडलों के रूप में किया जा सकता है जो नीचे दिये गये हैं।

अ३म् उसी तीन मंडल वाले महत्तत्त्व का दूसरा नाम है। यह उस देव का नाम है जो तीनों लोकों की व्यवस्था करता है, उनका अधिष्ठाता है और नियंत्रण करता है।

"अ" में शक्ति घनीभूत है जहाँ बल, तेज या अन्य वस्तु जिस नाम में भी तुम उसको समझना चाहो—अपनी

❀नोट–यह तीन वाला उदाहरण हिन्दुओं जैसा और जगह भी है :—

ईसाइयों में—ईश्वर पुत्र, ईश्वर पिता और ईश्वर पवित्र आत्मा, तीन रूपों में वर्णन है।

मुसलमानों में—मुहम्मद, अल्लाह और ला।

कलमा—ला इला इल लिल्ला, मुहम्मद रसूल इल्ला।

बौद्धों में—बुद्ध, धर्म और संघ इत्यादि इत्यादि।

प्रचंड अवस्था में है जबकि "म" में वह न्यूनतम रूप में है "उ" में जो "अ" और "म" की जोड़ने वाली कड़ी है प्रचंडता और न्यूनता दोनों ही हैं क्योंकि वह चेतनता और जड़ता दोनों ही मंडलों से लेती है।

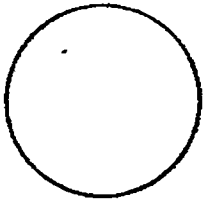

सत् अ

सच्चिदानन्द ओ३म्

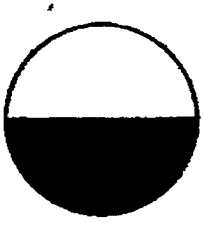

रज उ

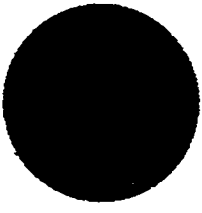

तम म

जोड़ने वाली कड़ी में दोनों के गुण हैं। इसी कारण वह चंचलता की अवस्था है। प्रथम मंडल में और उसकी

प्रतिबिम्बित प्रतिमा अर्थात् तीसरे मडल में कोई चंचलता नहीं है। सारी चंचलता बीच की कड़ी से आती है और इस दूसरे मंडल ने ही, विपरीत जोड़ों को जन्म दिया। चाहे वह गोचर तथा अगोचर, विचारणीय तथा अविचारणीय, चिन्तनीय तथा अचिन्तनीय हों।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है वह सापेक्ष्य दृष्टिकोण से कहा गया है और इसलिये यह आवश्यक है कि जो व्यक्ति इन पंक्तियों को पढ़े उसे इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि वह सापेक्षता को ध्यान में रक्खे।

पहला मंडल सत का है क्योंकि उसमें सत्ता है। दूसरा अथवा उसका प्रतिबिम्ब असत का है, क्योंकि उसमें सत शक्ति का न होना है। सत और असत एक दूसरे के विपरीत हैं जैसे कि तुम और दर्पण में तुम्हारी प्रतिबिम्बित प्रतिमा एक दूसरे के सामने होते हैं, परन्तु दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रतिमा तुम स्वयं नहीं हो यद्यपि वह तुम्हारे समान है। उसी प्रकार सत का मंडल अपनी प्रतिच्छाया असत के मंडल में डालता है यद्यपि यथार्थ में वहाँ सत का अभाव है। इस मंडल में सत नहीं है परन्तु देखने में ऐसा जान पड़ता है कि वह असत का मंडल उन सारी वस्तुओं को धारण करता है जो सत के मंडल में हैं या जिनके होने की कल्पना की जा सकती है। जिस प्रकार तुम और दर्पण में तुम्हारी दर्पण की छाया के बीच में स्थान है उसी प्रकार रचना में भी सत तथा असत मन्डलों के बीच में स्थान है और वह मन्डल एक प्रकार से दोनों का गोलार्द्ध वत गोल आकार प्रकट करता है।

सत जीवन है, असत मृत्यु है और जोड़ने वाले कड़ी की गोलार्द्ध वत संधि में दोनों शक्तियों के गुण अर्थात् जीवन और मृत्यु एक साथ रहते हैं।

चेतनता जड़त. का विरोधी है। जीवन की विरोधी मृत्यु है। प्रेम का विरोधी दुख है। 'विरोध' का अर्थ 'न होना' या अभाव है। वास्तव में जड़ता चेतनता का अभाव है। मृत्यु का अर्थ जीवन का न होना है। दुख का अर्थ आनन्द का न होना है। न होने का कोई अस्तित्व नहीं है।

प्रचलित धार्मिक पद्धतियों की परिभाषा में देव सत है अर्थात् इसमें जीवन, प्रेम और ज्ञान अत्यन्त तीव्र रूप में हैं और इसके विपरीत शैतान है। शैतान कुछ नहीं है। केवल देवत्व का अत्यन्त अभाव है, सत का पूर्णतया न होना है या पूर्णतः मिटना है।

जो व्यक्ति शैतान के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं वे बिल्कुल अन्धकार में हैं। वे अंधेरे में भटक ही नहीं रहे बल्कि स्वयं अन्धकार के मध्य में है (अर्थात् अज्ञानता में हैं)। अपने संशय और भ्रम से घिरे हुए हैं क्योंकि शैतान का किसी भी प्रकार का अस्तित्व नहीं है। किसी भी वस्तु के अनास्तित्व अथवा अभाव में विश्वास करना मूर्खता है। शैतान का अभिप्राय है "जो नहीं है" और जो नहीं है" उसमें जो व्यक्ति विश्वास करता है वह अपने में विश्वास नहीं करता।

न तो शैतान है और न पाप। न मृत्यु है और न दुख; क्योंकि ये सब शैतान, पाप आदि अपने में सार वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। जो व्यक्ति प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः सत को अस्वीकार करते हैं अज्ञानी हैं और यह अज्ञान दूसरे बीजों की तरह अपनी ही संतति पैदा करता है, चारों ओर अपना प्रभाव फैलाता है, जो उसके अन्धकार के चंगुल में आजाते हैं उनको ढक लेता है।

पाप पुण्य का अभाव है। मृत्यु जीवन का अभाव है। जड़ता चेतनता का अभाव है। दुख क्या है? आनन्द का

अभाव या न होना है। तुम "अभाव" (न होने) में क्यों विश्वास करते हो और स्वयं "होने" (अस्तित्व) में क्यों नहीं विश्वास करते। "होने" (अस्तित्व) पर ही भरोसा करना, विश्वास करना और विचार करना चाहिये।

पाँचवीं झांकी

सत्ताओं का विशेष स्पष्टीकरण

धर्मों की सामान्य परिभाषा में सत् और शक्ति आदि को आत्मा (रूह) कहते हैं और आत्मा का प्रतिबिम्ब जड़ वस्तु कहलाता है जब कि इन दोनों के बीच की वस्तु मन अथवा मानसिक शक्ति कहलाती है।

आत्मा या जड़ वस्तु में कोई विचार नहीं है। सारी विचार जो होता है केवल मन के मंडल में उत्पन्न होता और होता रहता है।

यदि विश्व का कुछ भी अस्तित्व है तो केवल तुम्हारे मन में ही उसका अस्तित्व है। मन से परे कोई चीज़ वास्तव में अस्तित्व नहीं रखता। विश्व केवल मानसिक है। सब तत्व, सारे अंग, सारे पदार्थ जो हैं अथवा नहीं हैं, मानसिक शक्ति के मंडल से संबन्धित हैं। वह केवल मन है जो सब वस्तुओं को नाम तथा रूप देता है और अपने लिये अपनी निजी मानसिक सृष्टि पैदा करता है। जैसे तुम हो वैसी तुम्हारी सृष्टि है। जैसा तुम देखते हो वैसी ही तुम्हारी दृष्टि अथवा दृश्य है। जैसा तुम सुनते हो वैसे ही तुम्हारा शब्द और वाणी है। सब कुछ अपनी निजी मानसिक शक्ति पर निर्भर है। लुब्ध मन के लिये यह संसार बाधाओं का लटकन है, शांत मन के लिये प्रत्येक स्थान में शाँति तथा निश्चलता है।

कहा जाता है कि ईश्वर ने चारों ओर संसार की रचना की। यह बात उस मनुष्य के, जो इन शब्दों को कहता है, विचारों के अनुसार सत्य अथवा असत्य हो सकती है; किन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य ने अपने चारों ओर अपनी निजी सृष्टि की रचना की है। उसकी परिस्थिति उसके उस निजी आदर्श के अनुसार है जो उस के विचारों में व्याप्त है। उसकी पत्नि वैसी है जैसी उसकी धारणा थी। उसके बालक वैसे ही हैं जैसी उसने अपने मन में कल्पना की थी। उसका घर वैसा ही है जैसा उसने अपने मन की अंतरस्थ गहराई में चित्रित किया था। वास्तव में प्रत्येक मनुष्य वही है जो वह है, वही था जो वह था तथा वही होगा जो वह होगा। संकल्प में इच्छा शामिल है और इसलिये 'संकल्प' उस बात को सूचित करता है कि मनुष्य क्या होने की इच्छा रखता है।

काल का नाम है भूत, वर्तमान तथा भविष्य और इसीलिये मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। उसका विश्वास है कि वह परिस्थितियों का परिणाम है, जब कि वास्तव में वह परिस्थितियों का पैदा करने वाला है। उदाहरणार्थ तुम्हारा विश्वास है कि मनुष्य ईश्वर का बनाया हुआ है। बहुत अच्छा! क्या मनुष्य अपनी संतति उत्पन्न नहीं करता? इससे सिद्ध हुआ कि जो पैदा हुआ है वह पैदा करने वाला भी है और प्रत्येक व्यक्ति की सृष्टि उस में से वैसी ही निकलती है जैसी वह चाहता है। उसमें समय लगे और न भी लगे। दोनों ही अवस्थायें उसकी संकल्प शक्ति तथा उसकी इच्छा की प्रबलता पर निर्भर हैं।

छटवीं झाँकी

मानसिक शक्ति की अवस्थायें

जब मन जागता है तब जाग्रति की अवस्था आती है, जब मन स्वप्न देखता है तो वह अपने चारों ओर उसी प्रकार स्वप्नों को पैदा करता है और चारों ओर से घिर जाता है जिस प्रकार रेशम का कोवा अथवा महीन जाला रेशम के कीड़े को लपेट लेता है। जब मन सोता है तो सारी हलचल बन्द हो जाती है और उसकी मानसिक दुनियाँ का यकायक या अचानक अन्त हो जाता है।

जब मन जाग्रति अवस्था का निर्माण करता है, वह अनेक नाम रूप धारण करता है। कमल का फूल खिलने के पहिले अपने में ही केन्द्रित था, लेकिन जब वह खिलता है तो तुम देखते हो कि उसकी विभिन्न पंखड़ियां चारों ओर फैली हुई हैं और उसकी सुगंध दूर दूर तक फैलती है। यही दशा मनुष्य जाति की है। मन की जाग्रति के साथ उसकी समस्त इन्द्रियाँ क्रीड़ा करती हैं और वह इस प्रकार कार्य करता है कि मानों वह भीतर बाहर मुख्य नियंता और मुख्य कार्य-कर्ता है। दृष्टि के स्थान में बैठा हुआ वह आँखों को यंत्र के समान चलाता है, उनकी शक्ति को नियंत्रण करता है लेकिन आखें उसको नहीं जानतीं परन्तु वास्तव में मन ही मुख्य दृष्टा है।

कानों के बीच में बैठा हुआ मन कानों को यंत्र के समान प्रयोग करता है, उनकी शक्ति पर नियंत्रण रखता है परन्तु कानों को उसका पता नहीं और श्रोता का काम वही करता है।

जब वह जिभ्या पर बैठता है, वह जीभ को अपना यंत्र बनाता है, उसकी शक्ति पर नियंत्रण रखता है मगर जिभ्या को

पता नहीं। वह स्वयं मुख्य वक्ता होता है।

इस प्रकार वह अपने सिर के उच्चतम शिखर से शरीर के सब से नीचे के भाग तक फैला हुआ है और सारे शरीर को अपनी सवारी बनाये हुये है मगर फिर भी शरीर को उसका पता नहीं है। सर्वोच्च खिलाड़ी की तरह शरीर के रंग मंच पर खेलता है। वह सब में व्यापक है। वह हर छिद्र में, हर जोड़ में, हर तंतु में, हर नाड़ी में अथवा हर बाल में मौजूद है। हर एक शारीरिक जीवित कोष (cell) में, जो छानबीन में आसकता है, यह मौजूद रहता है। वह सर्वस्व है सबका है और सब में है। यदि तुम इस मन को सहस्र देहों वाला अथवा करोड़ों ढांचों में बैठा हुआ जादूगर की भांति सबों में तथा सबों के भीतर अपनी लीला करने वाले वाला कहो तो यह कोई बढ़ावे की बात न होगी।

इस मन की छानबीन करनी चाहिये और इसकी असलियत पर विचार करना चाहिये। जो इसको जान लेता है वह सब कुछ जान लेता है। जो इसको नहीं जानता, वह कुछ भी नहीं जानता। अपने आपे को जानने का प्रयत्न करो। अपना आपा एक ऐसी वस्तु है जो इस मन में ढूंढा जा सकता है और अनुभव किया जा सकता है।

भौतिक जगत में मन तत्व यद्यपि एक है मगर करोड़ों नाम और रूप वाला है। शरीर के अंग, इन्द्रियाँ तथा शरीर के समस्त कण तभी तक जीवित हैं जब तक उनके बाहर और भीतर मन क्रीड़ा करता रहता है किन्तु ज्यों ही कि वह अलग होता है अथवा हृदय की खोह में अन्दर चला जाता है तो दृश्य पूर्णतः बदल जाता है।

भौतिक मंडल अथवा कर्म मंडल के सम्बन्ध में यह सब कहा गया है।

मानसिक मंडल में, देखने के लिये आँखें, सुनने के लि कान, सूंघने के लिये नाक, बोलने के लिये जीभ आदि नहीं है। वे सब निर्जीव, जड़ तथा मूढ़ हो जाते हैं। जब मन अपने निजी केन्द्र—मानसिक शक्ति के केन्द्र, में जाता है तो वह केन्द्र उसकी सवारी बन जाता है यद्यपि केन्द्र यह नहीं जानता कि उसको नियंत्रण करने वाला अपने स्थान पर मन रूपी जादूगर है।

स्थूल शरीर में उसकी शक्तियाँ सीमित थीं क्योंकि उसके मण्डल में हर एक पदार्थ की सीमाएँ होती हैं। मानसिक अवस्था में मन का केन्द्र अथवा उसके काम का क्षेत्र असीमित है। वह स्वयं भी हर तरह के बन्धनों से आजाद है क्योंकि वह सब कुछ है।

वह अपना मानसिक वातावरण बनाता है। वह अपना प्राकट्य अपने मानसिक रूप में करता है। उसके लिये कुछ भी असंभव अथवा असाध्य नहीं है। एक प्रकार से यह सृष्टा है। वह माता पिता, मित्र, सम्बन्धी, देवी देवता, समुद्र रेगिस्तान, नर्क स्वर्ग आदि को पैदा करता है।

इस मन के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि "वह बिना कानों के सुनता है, बिना जीभ के स्वाद लेता है और बिना हाथों के वह नाना प्रकार के कार्य करता है। उसके स्वाद के लिये इन्द्रियाँ नहीं है परन्तु वह सब स्वादिष्ट पदार्थों का स्वाद लेता है और सब भोग्य वस्तुओं का भोग करता है। जिह्वा नहीं है फिर भी बड़ा वक्ता है। वह कोई कार्य नहीं करता पर साथ ही बड़ा योगी है।"

यह उसका स्वप्न देश है जहाँ वह स्वप्न पर स्वप्न देखता है और अपने मानसिक स्वप्नों की, जहां हर बात संभव है, सभावनाओं तथा असंभावनाओं का अनुभव करता है।

जिसने अपनी संकल्प शक्ति को मन के स्थान पर उन्नत कर लिया हैं, वह उन सब शक्तियों को प्राप्त कर लेता है जो उसमें छिपी या दबी पड़ी थीं। योगियों की सारी सिद्धियाँ उनकी मानसिक एकाग्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यह मानसिक मण्डल के सम्बन्ध में रहा। तीसरी अवस्था सुषुप्ति की अथवा गाढ़ निद्रा की है जहाँ मन अपने को जीवन स्रोत में लीन कर देता है। यह ऐसा है जैसे कि मानो वह उसका विश्राम स्थान हो। इस मण्डल में (देश काल और वस्तु का) कोई बन्धन नहीं है। वहाँ न तो एक की न दो की और न तीन की धारणाएँ हैं। वह वही है जो कुछ वह है। प्राचीन काल के ऋषियों ने यह कहा है कि वह अकथ, अगाध, अगोचर और अगम है।

स्थूल जगत की जाग्रत अवस्था का विशेष तथा मुख्य लक्षण यह है कि उसमें (देश, काल, वस्तु की) सीमा है। और मानसिक जगत का मुख्य लक्षण यह है कि उसमें (देश काल वस्तु की) कोई सीमा नहीं है। आत्मिक जगत जो सुषुप्ति लोक के किनारे पर है उसमें सीमा तथा असीमा कोई नहीं है।

स्थूल जगत में मनुष्य के लिये प्रत्येक पदार्थ में सीमा है। उसकी धारणा में प्रत्येक वस्तु सीमित है। स्वप्न देखने वालों, ऋषियों और मानसिक व्यक्तियों के लिये सीमा और असीमा दोनों ही केवल मानसिक धारणायें हैं, क्योंकि इन दोनों को मनुष्य की मानसिक वृति ही धारण करती है।

सातवीं झांकी

भौतिक पदार्थ (Matter), मन और आत्मा

भौतिक पदार्थ मन नहीं है। मन भौतिक पदार्थ नहीं है। आत्मा न भौतिक पदार्थ है न मन।

भौतिक पदार्थ अपने स्थूल रूप में मनुष्य की इन्द्रियों का भोग है। अपने सूक्ष्म रूप में उसे देखा, पहचाना तथा मालुम नहीं किया जा सकता। स्थूल रूप वह कंपित लहरें है जो धनीभूत होकर हमारे दृष्टिगोचर होती हैं। यही बात आत्मा के सम्बन्ध में कही जा सकती है जो पूर्णतः निराकार है। वह क्या है वह मन या बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि वह उन दोनों की पहुंच के बाहर है। यह शक्तियाँ उस तक पहुंचने के पहिले पूर्णतः जीर्ण या शिथिल अथवा नष्ट हो जाती हैं। अतएव बुद्धि की सहायता से आत्मा का विश्लेषण तथा संकलन कठिन ही नहीं वरन् पूर्णतया असंभव है, तौ भी एक तरीका है जो उस तक पहुंचने में सहायता देता है। वह अन्तर्ज्ञान (Intution) है। यह प्रत्येक वस्तु का आत्मा में लय होने के समान है। बिजली की भाँति वह काम करता है। क्षणमात्र में वह दिखाई देता है और क्षणमात्र में छिप जाता है। यह न ठहरने वाली झलक है, पर यह सत्य है और वे जो स्वप्न देश की सीमा के परे आत्म लोक में गये हैं केवल वे ही किसी प्रकार की धारणा रख सकते हैं।

जीवन, ज्ञान, और प्रेम इनके अपने निजी रूप हैं। भौतिक वस्तुओं में जीवन है, मन में ज्ञान है और आत्मा में प्रेम है। प्रत्येक प्राणी आत्मा, मन तथा भौतिक पदार्थों का संयोग (मिलौनी) मात्र है। भौतिक पदार्थ देह है, आत्मा परमात्मा से सम्बन्धित है और मन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है दोनों पदार्थों की प्रतिच्छाया का मेल है और यही कारण है कि विवेक और बुद्धि उसमें से निकलती हैं।

शरीरों के द्वारा ही हमारे अस्तित्व जाने जाते, देखे जाते अथवा विचारे जाते हैं। यदि कोई शरीर न होता तो किसी

ने भी किसी शरीर को न तो देखा होता, न उसके बारे में सुना होता व जाना होता, न उसे मालुम किया होता न समझा या सोचा होता।

शरीर बाह्य चेतनता का स्थान है, दूसरी ओर मन चेतनता का केन्द्र है और अंतरीय चेतनता का स्थान है। आत्मा की चेतनता अन्तरतम है और उसकी निजी वस्तु है। मन की चेतनता मानसिक शक्ति कहलाती है। उसके कार्य का क्षेत्र सीमित है। उदाहरणार्थ जब तुम खाते हो, भोजन का स्वाद लेते तथा अनुभव करते हो और अपने भोजन के प्रकार, गुण तथा परिणाम के विषय में कह सकते हो। चेतन मन केवल इतना ही सचेत है और हो सकता है।

जब भोजन अच्छी तरह चबाया जा चुकता है तो वह चेतन अज्ञात मन (Sub-conscious mind) के मंडल में जाता है। उसके कार्य का क्षेत्र असीमित है। वह आहार को पचाता तथा रक्त, चर्बी, वीर्य और ओजस में बदलता है मगर वह यह प्रगट नहीं कर सकता कि वह क्या कर रहा है परन्तु वह सिर से एड़ी तक उन्हें बांटता है। यह चेतन मन के अधीन है और इसलिये यह अज्ञात चेतन मन (Sub-conscious Mind) कहलाता है। इन दोनों के परे परम चेतन मन का देश है जो अज्ञात चेतन मन (Sub-conscious mind) के देश की भांति असीमित है और उसके कार्य का क्षेत्र विस्तृत है।

जब कोई पुरुष और स्त्री अपने परम चेतन मन के अधीन होते हैं तो वह परम द्रष्टा बन जाते हैं। दृश्य उनकी मानसिक आँखों के सामने होता है। वह व्यक्ति उसके बारे में कहता है, उस पर विश्वास करता है, भरोसा करता है। उसमें कुछ ऐसी वस्तु की आशा तथा प्रतीति करता है जो दूसरों को विस्मय-जनक तथा अगम्य है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य सोचते हैं

कि वह पुरुष अथवा स्त्री किसी दुष्ट जिन्द अथवा अपकी भूत द्वारा सताये गये हैं और उनके प्रभाव में हैं, क्योंकि यह परम चेतन मन के प्रभाव में हैं जिसमें अज्ञानी तथा अपढ़ पुरुष अथवा स्त्री ऐसी भाषा बोलते हैं जिसको ये जाग्रत अवस्था में नहीं जानते थे। वह व्यक्ति आज भी अज्ञानी है क्योंकि वाह्य जीवात्मा अज्ञानी है। वह सब की उपेक्षा करता है किन्तु उसकी अज्ञानता साधारण सभ्य मनुष्य की अज्ञानता से बिल्कुल भिन्न है।

आठवीं झाँकी

तीन सत्ताओं के तीन कार्य

शरीर कार्य करता है, मन सोचता है और आत्मा आनन्द लेती है।

देहधारी को कार्य करना चाहिये अर्थात उसको अपनी शारीरिक इन्द्रियों का उपयोग करना चाहिये और उन्हें प्रकृति के पदार्थों की सेवा में लगाये रहना चाहिये। उस व्यक्ति को जो इस प्रकार कार्य में लगा है, जीवन की असफलताओं की शिकायत नहीं होनी चाहिये किन्तु उसका काम, विचार तथा प्रेम से युक्त होना चाहिये क्योंकि विचार तथा प्रेम के बिना कार्य शरीर को हानिकर है।

मन का कार्य विचार करना है परन्तु विचार के साथ [illegible]दिये। बिना काम के विचार जीवात्मा के [illegible]लिये हानिकारी है।

[illegible]प्रेम है। प्रेम प्रसन्नता है और प्रसन्नता [illegible] ऐसी कोई आपत्ति नहीं है जिसकी [illegible]प्रेम आध्यात्मिक मनुष्य का लक्षण है

परन्तु उसके साथ में कार्य और विचार होना चाहिये। इन तीनों को एक मेल या एक ताल या एक रस होना चाहिये और तब ही जीवन अपने को तथा दूसरों को सुखकर होगा।

जिस प्रकार मनुष्य जागता है, स्वप्न देखता है और गहरी नींद सोता है उसी प्रकार उसे काम करना चाहिये, विचार करना चाहिये और आनंद लेना चाहिये। ऐसे व्यक्ति के लिये जीवन का लक्ष्य पहुँचने को दूर नहीं होगा, यदि उसे प्राप्त करने के लिये उसका दृढ़ विचार है। जीवन की पूर्णता इसमें है कि आदमी निरंतर काम करता रहे, विचार मय रहे और आनन्द में रहे। केवल अपूर्ण व्यक्ति व्यर्थ के असंतोष में अपना समय नष्ट करते रहे हैं। शिकायतों तथा बड़बड़ाहटों से चिन्ताएँ पैदा होती हैं और चिन्ताओं से शरीर अस्वस्थ हो जाता है। अस्वस्थता उस अपरिपक्व जीवन का अन्त कर देती है और लक्ष्य प्राप्त नहीं होता।

मनुष्य को प्रकृति ने सबसे श्रेष्ठ बनाया है और इसलिये उससे यह आशा नहीं की जाती कि वह अपनी शक्ति को व्यर्थ विचारों तथा आराम में नष्ट करे। वह काम करने, विचार करने और सुखी रहने को पैदा किया गया है। इन्हें साथ साथ चलना है चूंकि आत्मा, मन और शरीर मिले हुये हैं और एक दूसरे के सहायक हैं।

विचार और प्रसन्नता से न किया हुआ काम उस शरीर के समान है जिसमें न मन है न आत्मा है। इसी प्रकार प्रसन्नता और काम के विचार शरीर विना किसी प्रयोजन के जंगल में भ और कार्य के बिना आनंद ऐसे प्राणी तथा मन नहीं है स्वादिष्ट भोजन के स्वाद नहीं ले सकता।

नवीं झांकी

जीवन का सदुपयोग

काम, विचार और आनंद ही मनुष्य के जीवन के लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य कुछ और है और वह जानने और प्राप्त करने योग्य है।

जब तक तुम्हारा शरीर और अंग स्वस्थ हैं तुम काम करते रहो। जब तक तुम्हारा मन और मानसिक शक्ति स्वस्थ हैं विचार करते रहो। जब तक कि तुम चेतनता की स्थिति में हो, आनंद लेते रहो, परन्तु सदा ध्यान रक्खो कि तुम्हारा काम, तुम्हारा आनंद और तुम्हारा विचार दूसरों के लाभ तथा सहायता के लिये उतना होना चाहिये जितना कि तुम्हारे अपने लिये है। यदि इस प्रकार काम करना, विचारना तथा आनंद लेना जारी रखते हो तो वह सदुपयोग है वर्ना दुरुपयोग है।

पवित्र धर्म ग्रन्थों में स्वार्थ को इस युग का सबसे बड़ा पाप कहा गया है। मनुष्य, राष्ट्र और जातियाँ सबसे स्वार्थी हैं। पेशे वाले अपने साथी पेशा वालों से इर्ष्या और द्वेष रखते हैं। एक पेशे के दो आदमी सहमत नहीं होते। यही कारण है कि यह युग दुःख तथा आपत्ति का युग बन गया है। अशांति, बेचैनी, चंचलता का होना अपनी सच्ची आत्मा को हनन करना है अर्थात आत्मा के अस्तित्व को न मानना है। बुद्धि विनाश का यन्त्र हो जाती है और मन विनाश के अस्त्र के रूप में काम करता है। जब तक यह अवस्था जारी रहेगी तब तक मानव जाति दुखी रहेगी।

संसार में तुम अकेले नहीं हो। तुम्हारे शरीर का प्रत्येक अंग दूसरे अंग पर निर्भर है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति

दूसरे व्यक्ति से जुड़ा हुआ है इसलिये यह उचित है कि सब लोग मेल के साथ काम करें, विचार करें और सुख भोगें।

कितनी भी चेतावनियाँ, धर्मोपदेश तथा व्याख्यान मानवता की सेवा करने के तथ्य को किसी व्यक्ति के मन में इतना नहीं उतार सकते जितना कि उसका निजी अनुभव उतार सकता है। अनुभव एक मंहगी पाठशाला है और बहुत कम व्यक्ति उसमें सीखने के लिये तैयार हैं, परन्तु उन्हें आज तथा कल सीखना ही पड़ेगा। जीवन का अर्थ बढ़ना और विकास करना है। यह बढ़ना और विकास करना जीवन को सुन्दर तथा सुखी बनाता है। अनुभव प्राप्त करने के लिये मनुष्य का जन्म हुआ है क्योंकि अनुभव से जीवन सुधरता है। इसलिये मनुष्य को उनको सहायता करनी चाहिये जिनको सहायता की आवश्यकता है और सहायता चाहते हैं। यदि कोई मनुष्य कहता है—"मैं दूसरों की परवाह नहीं करता मैं अपने ही सुख का विचार करता हूं", तो ऐसे स्वार्थी मनुष्य की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये। आज के प्रायः सभी सभ्य मनुष्य यही विचारा धारा रखते हैं। वे कहते हैं—"प्रत्येक मनुष्य अपने निज के लिये है और ईश्वर सब के लिये है", परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि यदि उनका पड़ौसी बीमार है, दुखी है या विलाप कर रहा है तो वह सुखी नहीं रह सकते। जब तक कोई व्यक्ति अपने पड़ौस को सुखी नहीं बनायेगा तब तक न तो अपने जीवन को सुखी बना सकत है न सुखी रह सकता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक कि हमको दूसरों का उतना ही ख्याल रखना चा जितना कि अपना।

जीवन का अर्थ विस्तार ह। तुम इस संसार में एक शे

लेकर आये हो। तुम समय पर अपना विवाह कर लेते हो और एक से दो हो जाते हो। संतति पैदा होती है और तुम्हारा संसार से संबन्ध बढ़ जाता है। यह विस्तार अपना किया हुआ एक कर्म है। इस तरह के विस्तार रूप कर्म आदि जीवन के विकास के रूप में हैं।

जीवन बिना विस्तार और कर्म के निरर्थक है। जीवन को जीवन तब ही कह सके हैं जब कि तुम अपने को दृढ़ता से जतलाओ और अपने विचारों को शब्दों और कार्य्यों से प्रकट करो। ये तुम्हारे कथन और काम ऐसे होने चाहिये, जो तुम्हारे आसपास के लोगों के सुख की वृद्धि करें। यह बातें कल्पना मात्र मालुम होंगी, परन्तु यह व्यावहारिक (अमली) है और इनको दिन प्रतिदिन के व्यवहार में लाना चाहिये।

"खाओ, पीओ, मौज करो" में कोई हानि नहीं है, परन्तु इस विषयासक्त जीवन का भी आदर्श मानव जाति की सेवा किसी न किसी रूप में होना चाहिये और तभी यह जीवन सदाचारी जीवन होगा।

एक भिक्षुक जो दूसरों के कल्याण के लिये माँगता है उस व्यक्ति से बढ़कर है जो अपने निजी उपयोग के लिये धन संग्रह करता है। भिक्षुक भिक्षा माँगने में अपने जीवन का आनंद ले रहा है परन्तु इस मनुष्य को जो धन संग्रह में तत्पर है कोई सुख नहीं है और उसका जीवन खोखला है।

दसवीं झांकी

जीवन, ज्ञान तथा प्रेम (फिर से)

नदियाँ, वृक्ष, सूर्य और चन्द्रमा अर्थात् प्रकृति की समस्त शक्तियां दूसरों को जीवन देती हैं और स्वयं जीवित रहती हैं। यह जीवन है।

वृक्ष अपने लिये फल पैदा नहीं किया करते किन्त
के उपभोग के लिये करते हैं। और वृक्ष ऋतुओं की कठ
को सहन करते हुये खड़े रहते हैं और कठोरता से
की रक्षा करते रहते हैं। यह जीवन है।

सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र अपने लिये नहीं बल्कि
के लिये चमकते हैं। यह प्रकाश या ज्ञान है।

नदी, मरुभूमि तथा शुष्क भूमियों में से घूमती हु
बुझाती हुई, खेतों तथा उद्यानों को सींचती हुई, सबको
देती हुई और बदले में कुछ भी न लेती हुई, बहती
प्रेम है।

प्रेम लेना अथवा ग्रहण करना नहीं है किन्तु वह
क्योंकि प्रेम में कोई स्वार्थ नहीं होता है। कोई
इतनी पवित्र, इतनी पुनीत, इतनी शुभ नहीं है और
इतनी रुचिकर और मधुर नहीं है जितना कि प्रेम
प्रेम है क्योंकि वह देता है और बदले में कुछ नहीं
पति प्रेम है क्योंकि वह अपनी पत्नि के लिये अपना
दे देता है। माता पिता प्रेम हैं क्योंकि वह अपने बा
स्नेह सहित तथा उनसे बिना किसी बदले की भावना
पोषण करते हैं।

किसी झोंपड़ी में कुछ आदमी मलेरिया ज्वर से
थे। एक मनुष्य ने जो सड़क से जा रहा था उनकी
सुनी। वह उनके घर में घुसा और बिना माँगे उनको
को दिया। वे ताजा होगये, उन्होंने उसे आशीर्वा
और उनमें आमोद प्रमोद होगया। वे कुछ समय
अपना रोग भूल गये। यह जीवन है। जहां जीव
करता है वहाँ से मृत्यु चल देती है।

अंधेरे में बैठे हुये कई मनुष्य जीवन की उपयोगिता पर वाद विवाद कर रहे थे और किसी भी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके। एक मनुष्य अपने हाथ में दीपक लिये हुए उनकी झोंपड़ी में दाखिल हुआ। अंधकार ने स्थान छोड़ दिया और सब जगह प्रकाश और चमक हो गई। उसने कहा "भाइयो, जीवन का तात्पर्य जुबानी बातों से नहीं है। वह तो जीवित रहने और चमकने की वस्तु है। अपने को इस दीपक की तरह जलाओ। जब तुम प्रकाशित हो जाओगे तब दूसरों को प्रकाश दे सकोगे। जब तक तुमने अपने को नहीं जलाया है तथा तुम्हारे हृदय में वेदना नहीं है तब तक तुम दूसरों को प्रकाशित करने में कैसे समर्थ हो सकोगे। प्रकाश का अर्थ ज्ञान तथा बुद्धि मत्ता के हैं। ज्ञान तथा बुद्धि दोनों ऐसे पदार्थ हैं कि जनका उपयोग किया जाना चाहिये, जिन पर कार्य किया जाना चाहिये और जिनको आत्मसात किया जाना चाहिये। जो केवल जुबानी बातों के आदी है वे केवल नाम के बुद्धिमान हैं कार्य में नहीं। नाम का बुद्धिमान खाली बोरे के समान है जो अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो सकता। यदि तुम बुद्धि रखते हो तो मुझ से यह शिक्षा लो कि पहले अपने को बुद्धिमान बनाओ और फिर बुद्धिमत्ता को सर्वत्र फैलाओ।"

प्रेम में कार्य और विचार दोनों हैं। प्रेम कार्य करता है परन्तु उसका कार्य स्वामी का कार्य है, दास का कार्य नहीं है। प्रेमी के विचार पवित्रतम होते हैं उनमें गंदगी नहीं होती।

एक छोटी सी नदी के किनारे पर बैठी हुई तीन बालिकायें अपने मनोहर प्यालों की प्रशंसा कर रही थीं। उनमें उत्तेजक वाद विवाद था और कोई भी यह निश्चय न कर सकी कि कौन सा प्याला सबसे अच्छा है। एक निर्धन भिक्षा मांगने वाली स्त्री उस स्थान पर आ पहुँची। उन्होंने अपना झगड़ा

निपटाने के लिये उससे प्रार्थना की। स्त्री ने उत्तर दिया—"मैं बहुत प्यासी हूं, तुम अपने प्यालों से मुझे पानी पीने दो तो अच्छा हो और तब मैं तुम्हारा निर्णय करूँगी। दो बालिकाओं ने अपने प्यालों से पानी पीने के लिये उसे मना कर दिया जबकि तीसरी ने अपने प्याले को साफ किया और तब उसमें पानी भरा और उस स्त्री को दिया। उसने उससे पानी पिया और उन्हें समझाया कि वही प्याला अतिश्रेष्ठ है जिसने पानी देकर प्यास बुझाई। दूसरे प्याले निरर्थक हैं और न उनमें कोई सौंदर्य है।"

जो व्यक्ति किसी एक से प्रेम करता है वह सबसे प्रेम करता है। जो एक से प्रेम नहीं करता वह किसी से प्रेम नहीं कर सकता। यदि किसी के मन में प्रेम प्रवेश कर गया है तो उसके गृह में स्थान है परन्तु जिसके मन में प्रेम नहीं है उसके गृह में कोई स्थान नहीं है। प्रेम सुन्दरता है और प्रेम कला है। प्रेम प्रेमी तथा प्रिय तीन नहीं हैं परन्तु वह एक तथा एक ही वस्तु हैं। एक में तीन तथा तीन में एक। तीन शरीरों में एक ही आत्मा उन सब को उसी समय एक केन्द्र में लाती है। वे कहते हैं 'प्रेम निस्स्वार्थ होता है" और वह ऐसा ही है क्योंकि जहाँ प्रेम है वहाँ द्वैत नहीं है। वे कहते हैं "प्रेम अंधा है" और यह बिल्कुल सही है क्योंकि जहां प्रेम है वहाँ तर्क नहीं है और न शब्दों का झगड़ा है। प्रेम अपना स्वयं प्रमाण है। उसे अपनी उपस्थिति और अस्तित्व के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

प्रेम एक व्यापक शक्ति है। यदि वह हर जगह मौजूद न होता तो संसार ही पैदा न होता। यह प्रेम है जो उत्पन्न करता है, यह प्रेम है जो वृद्धि करता और यह प्रेम है जो हर एक के लिये स्थान देता है। हम पैदा हुए हैं, हम जीवित

अगत पिंडी जगत (मनुष्य शरीर) के समान है। पिंडी जगत ब्रह्माडी जगत के तुल्य है। जैसे कि तुम सशरीर आत्मा हो वैसे ही परमेश्वर हैं। कोई भी आत्मा बिना शरीर के काम नहीं कर सकती। शरीर उसके अस्तित्व का प्राकट्य है। शरीर के बिना प्राकट्य असम्भव है। हिन्दी में एक कहावत है।

ब्रह्म रहे काया के ओले।
बिन काया ब्रह्म क्या बोले॥

अतःएव यह परिणाम निकलता है कि जिस प्रकार तुम अपने शरीर में व्यापक तत्व हो और तुम अपने शारीरिक ढाँचे का नियंत्रण करते हो, उसी प्रकार संपूर्ण जगत अपने सारे संगठन अथवा यंत्र सहित उस परमात्मा का शारीरिक ढाँचा अथवा शरीर है जो वहाँ निवास करता है और जो सर्वत्र विराजमान तथा सर्वज्ञ हैं।

तीसरी झांकी.

योग दर्शन का उद्देश्य एकता

यह पुरानी कहावत है कि "संगठित रूप में हम शक्तिवान हैं और पृथक पृथक हो जाने में हम शक्ति हीन हो जाते हैं।" योग का आदर्श एकता है। योग संस्कृत के 'युज' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है जोड़ना। अँग्रेजी शब्द 'योक' यानी जुआ भी इसी संस्कृत धातु से निकला है। योग तथा योक एक ही है। योक अर्थात् जुए में बैलों को हल से जोड़ा जाता है और योग में जीवात्मा का योग परमात्मा से किया जाता है।

प्राचीन काल के ऋषियों ने योग की पृथक पृथक रीति से परिभाषा की है परन्तु उन सब का उद्देश्य समान है अर्थात जीवात्मा का परमात्मा से मिलना। योग पद्धति के संस्थापक पातंजलि का मत है कि चित्त की वृतियों का निरोध ही सच्चा

पूर्ण योग है। याज्ञवल्क्य दूसरे प्रसिद्ध योगी ने कहा है कि परमात्मा के अमूर्त्ति रूप के ध्यान का परिणाम योग होता है। दोनों ही ठीक हैं क्योंकि जब तक चित्त शक्ति उस चैतन्यता के केन्द्र पर स्थिरता प्राप्त नहीं करती जो परमात्मा का निवास-स्थान है वह उस में लीन नहीं होता और उससे कोई योग तथा संयोग नहीं हो सकता।

आग से संयोग गर्मी पैदा करना है। बरफ़ से संयोग का परिणाम शीतलता है। उसी प्रकार परमात्मा के योग से परमावस्था की प्राप्ति होती है। यह योग है।

ईश्वर पूर्ण है, परम है। ईश्वर संपूर्ण है और सर्वस्व है। जगत में जो कुछ पदार्थ हैं उसी ईश्वर से जुड़े हुये हैं। वे उसी में जन्म लेते हैं उसी में जीवित रहते हैं, और काम करते हैं। उसी में मरते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। वह सत्य है परन्तु यह विचार कि सब प्राणी अलग हैं मनुष्य के मस्तिष्क में पृथकता का भाव पैदा कर देता है। इसी से दुःख होता है। ईश्वर कभी भी मनुष्य से अलग नहीं है। मनुष्य कभी ईश्वर से अलग नहीं हो सकता। यह केवल असत्य कल्पना है जिसने काल्पनिक (फ़र्ज़ी) पृथकता पैदा करदी है। जितनी जल्दी इसे हटाया जाये मनुष्य के लिये उतना ही अच्छा है। योग का लक्ष्य यही है।

पानी की प्रत्येक बूंद में उसके पीछे पानी अथवा सागर का संपूर्ण बल होता है। आग की प्रत्येक छोटी से छोटी चिनगारी में उसके पीछे पूर्ण—दाहक शक्ति रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष में वह चाहे कोई भी अथवा कुछ भी क्यों न हो, उसके पीछे प्रकृति की अथवा प्रकृति के देव की संपूर्ण शक्ति रहती है। जो व्यक्ति ऐसी धारणा वाला है

उसका संकल्प दृढ़ हो जाता है और बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है। इसके विरुद्ध जिन लोगों को ऐसा विश्वास नहीं होता उनकी दशा उलटी होती है।

चौथी झाँकी

विभिन्न प्रकार के योग

दुर्बलता का शक्ति से संयोग, योग है। कुरूपता का सुन्दरता से संयोग योग है। रुग्नता का स्वास्थ्य से मिलन योग है। दरिद्रता का लक्ष्मी से मिलन योग है। दुख का सुख से मिलन योग है और अपूर्ण का पूर्ण से मिलन योग है।

मनुष्य वास्तव में शक्ति शाली सुन्दर, स्वस्थ, धनी तथा सुखी है परन्तु मनुष्य की ईश्वर से अलग होने की अपनी ही झूँठी भावनाओं ने उसकी दुर्बल, कुरूप, रोगी, निर्बल तथा दुखी बना रखा है।

ईश्वर सब प्राणियों में व्यापक है और इसलिये वह उनसे अलग नहीं है। अपूर्णता का अर्थ हर प्रकार की दुर्बलता है। पूर्णता में विभिन्न प्रकार की पूर्णतायें हैं। ईश्वर पूर्ण है और इसलिये जो व्यक्ति अपने को उस ईश्वर में मिला देता है वह अवश्य ही पूर्ण हो जाता है या कम से कम उसकी पूर्णता में भागीदार हो जाता है। ईश्वर साकार तथा निराकार दोनों ही हैं। साकार में स्थूलता है। निराकार में सूक्ष्मता है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति उस ईश्वर में अपनी विशेष चित्त वृति के अनुसार विश्वास तथा भरोसा कर सकता है। ईश्वर के अस्तित्व पर वाद विवाद करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर ही केवल सत्य है, पूर्ण है, तथा प्रत्येक वस्तु की जो है अथवा होगी, अथवा कभी थी, समष्टि है।

यह मान लेना गलत है कि योग पद्धति केवल अलौकिक शक्तियों के प्राप्त करने का विज्ञान है। यह बहुत बड़ा विषय है जिसमें विचारों की सारी पद्धतियां आजाती हैं जिनका किसी भी रूप में पूर्णता या अपूर्णता की भावनाओं से कोई भी सम्बंध है। योग अपूर्णता को दूर करने तथा व्यक्ति को पूर्णता की प्राप्ति में मार्ग दिखाने वाला है और इसलिये हम योग को नीचे दिये गये कम से कम पाँच प्रकार की पद्धतियों में बांटने का साहस करते हैं :—

(१) हठ योग, (२) प्राण योग, (३) मानसिक योग, (४) ज्ञान योग, (५) आनन्द योग। हिंदू धर्म ग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक मानव तीन शरीरों से युक्त है। पहला शरीर "स्थूल" अथवा शारीरिक ढांचा कहलाता है जिसे बाहर से देखा, मालूम किया, स्पर्श किया सूंघा तथा चाखा जा सकता है। यह दो कोषों का बना हुआ है। पहला कोष वाह्य शारीरिक ढांचा है जो त्वचा, मांस, रक्त, हड्डियों आदि का बना हुआ है। यह अन्न मय कोष है। दूसरा कोष श्वासों का है जो सारे शरीर में व्यापक है। यह "प्राणमय कोष" कहलाता है।

दूसरा शरीर "सूक्ष्म" अथवा मानसिक ढांचा कहलाता है जो स्थूल शारीरिक ढांचे के भीतर हैं। यह भी दो कोषों का बना हुआ है। एक तो मानसिक शक्ति का कोष अथवा मनोमय कोष कहलाता है और दूसरा बुद्धि का कोष अथवा विज्ञानमय कोष कहलाता है।

तीसरा शरीर "कारण अथवा कारण ढांचा कहलाता है जो सबसे भीतर का कोष है जिसका काम जीवात्मा को ढक देने का है। यह आनन्द मय कोष कहलाता है। यह आत्मा के अत्यन्त निकट होने के कारण आनन्द से परिपूर्ण

रहते हैं और मरते हैं और प्रेम में लीन होजाते हैं क्योंकि ईश प्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि प्रेम न होता तो ईश्वर भी नहीं होता। यदि ईश्वर न होता तो प्रेम भी नहीं होता। प्रेम तथा ईश्वर दोनों एक ही वस्तु हैं।

इति प्रथम भाग "अनेकता"

दूसरा भाग—एकता

पहली झांकी

एकता में भिन्नता

सब एक है तथा एक ही सब है। यह सत्य है जैसा कि सत्य हो सकता है, परन्तु एक और पूर्ण में भिन्नता भी है। भिन्नता भी यथार्थ है यद्यपि उसे क्षणिक तथा काल्पनिक कहा जा सकता है।

मनुष्यों की रायों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। यदि प्रकृति में भिन्नता है तो सब एक बात पर कैसे सहमत हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का निजी दृष्टिकोण है और इसलिये मतभेद साथ साथ चलता है।

एक ही ऋषि के अनुयायियों के दृष्टिकोण समान नहीं होते। उनके दृष्टिकोण या रायों का समान न होना अनुचित नहीं है हमें आपस में केवल इस कारण झगड़ा नहीं करना चाहिये कि हमारे दृष्टिकोण भिन्न हैं।

भिन्नता के जगत में एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। कोई भी दो व्यक्तियों की शारीरिक आकृति एकसी नहीं है। कोई भी

दो रूप एक दूसरे से पूर्ण समता प्रकट नहीं करते। प्रकृति की व्यवस्था में निस्संदेह भिन्नता में एकता है, परन्तु एकता का वह अर्थ नहीं है कि सब एक समान हों। उदाहरणार्थ मैं मनुष्य हूँ और मेरा एक शरीर है जो अनेक अंगों से बना हुआ है। सरसरी दृष्टि से देखो तो तुम दो अंगों को समान नहीं पाओगे क्योंकि उनको एक समान नहीं बनाया गया है। दो आँखें समान नहीं है। दो नाकें समान नहीं हैं इत्यादि। यदि सूक्ष्मता से जांच की जाय तो किसी पौदे की दो पत्तियाँ भी एक दूसरे के समान नहीं हैं। जो कुछ है केवल एक ही एक है। प्रत्येक एक है और अपने समान दूसरा नहीं रखता।

भिन्नता अनेकता है। अनेकता में व्यक्तित्व भी है। यह एक प्रकार की व्यापक शक्ति है और हर जगह मिल जाती है। मानव शरीर में कई करोड़ सूक्ष्म कोष्ठ हैं जो अपना व्यक्तित्व रखते हैं किन्तु वे सब एक समान नहीं हैं। सब एक दूसरे से भिन्न हैं।

अनेकता के सिद्धान्त के विचार को अपने मन में उस समुद्र के रूप में कल्पना करो जिसमें विचारों की लहरें प्रत्येक क्षण उठती और बैठती हैं। इस समुद्र में अनगिनत केन्द्र हैं और हर एक केन्द्र अपना महत्व रखता है। एक केन्द्र सूर्य है, दूसरा चन्द्रमा है तत्पश्चात् दूसरे नक्षत्र हैं इत्यादि। इस प्रकार से एक केन्द्र मानवता का है जिसमें करोड़ों मनुष्य हैं जो सब एक ही केन्द्र में केन्द्रीभूत हैं। यह अनेकता के संबंध में पर्याप्त होगा।

दूसरी झांकी

भिन्नता में एकता

परमेश्वर के सम्बंध में यह कहा गया था कि वह एक में तीन और तीन में एक है। यह त्रिलोकी अर्थात् आत्मिक लोक,